वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ५० अंक ९ सितम्बर २०१२

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ९

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ५० **सितम्बर २०१२** **अंक ९**

पुरखों की थाती

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचरा प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोग-रचना निद्रा समाधिस्थितिः ।
संचारः पदयोः प्रदक्षिण-विधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥९९॥

– हे शम्भो, आप ही मेरी आत्मा हैं, पार्वतीजी मेरी बुद्धि हैं, पाँचों प्राण मेरे मित्र-सहचर हैं, पंचभौतिक शरीर मेरा घर है, इसमें रहकर विविध प्रकार के विषयों का भोग करना ही आपकी पूजा है, निद्रा ही समाधि अवस्था है, पाँवों द्वारा इधर-उधर आवागमन आपकी प्रदक्षिणा है और मुख से जो भी बातें निकलती हैं, वे सब आपके स्तोत्र हैं। मेरे द्वारा जो भी कर्म होते हैं, उन सबके माध्यम से आपकी आराधना ही हो रही है।

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता रीतिः ।।

– धन को सर्वदा अनर्थ का कारण समझो, सच कहता हूँ – उसमें सुख का लेश मात्र भी नहीं है । वस्तुतः धनवान होने पर अपने पुत्र तक से भय होता है। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र यही नियम बताया गया है। – श्री शंकराचार्य

कण्टकस्य कण्टकेनैव शोधनं भवति ।।१।।

– काँटा काँटे से ही निकलता है। – नीतिवचन

कन्या वरौते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।
बान्धवाः कुलम् इच्छन्ति मिष्टान्नम् इतरे जनाः ।।२।।

– विवाह के समय कन्या वर का रूप देखती है, माता धन देखती है, पिता सुख्याति देखते हैं, मित्रगण कुल देखते हैं और बाकी लोग केवल मिष्टान्न की इच्छा करते हैं।

करचरणकृतं वाक्कायजं कर्मजं वा,
श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम् ।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व,
जय जय करुणाब्धे श्रीमहादेव शम्भो ।।३।।

– हे करुणा के सागर, हे भगवान महादेव शम्भो, आपकी जय हो। मेरे हाथ, पाँव, वाणी, शरीर, कर्म, कान, नेत्र और मन के द्वारा – जाने या अनजाने में मुझसे जो भी भूलें हुई हों, कृपा करके उन्हें क्षमा करें।

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती ।
करमूले तु गोविन्दः प्रभाते करदर्शनम् ।।४।।

– मैं प्रातःकाल उठकर अपने हाथ का दर्शन करता हूँ। मेरी हाथों के छोर – उंगलियों में लक्ष्मीजी का निवास है, हाथ के मध्य (हथेली) में सरस्वतीजी का निवास है तथा हाथ के जोड़ पर गोविन्दजी का निवास है। (इनकी कृपा से मुझे धन तथा विद्या की प्राप्ति और कर्तव्य-निष्ठा की प्रेरणा प्राप्त हो।)

करोति स्वमुखेनैव बहुधान्यस्य खण्डनम् ।।
नमः पतनशीलाय मुसलाय खलाय च ।।५।।

– मैं उस गिरनेवाले मूसल तथा खल (दुष्ट) की वन्दना करता हूँ, जो अपने मुख से (मूसल के अर्थ में) बहुत से धान का और (दुष्ट के अर्थ में) बहुधा अन्य लोगों का खण्डन कर डालते हैं।

कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते
सा कामधुक् कामितमेव दोग्धि ।
चिन्तामणिश्चिन्तितमेव दत्ते
सतां तु संगः सकलम् प्रसूते ।।६।।

– कल्पवृक्ष मात्र उतना ही दे सकता है, जितनी की कल्पना की जाय, कामधेनु उतना ही दे सकती है, जितनी की इच्छा की जाय, चिन्तामणि केवल उतना ही दे सकता है, जितना कि चिन्तन किया जाय, परन्तु सत्पुरुषों का संग सब कुछ प्रदान करता है।

❖ (क्रमशः) ❖

मातृ-वन्दना

– १ –

(भैरवी-कहरवा)

(तर्ज – हे जगत्राता विश्वविधाता)

आया द्वार तुम्हारे जननी, भिक्षा पाने दरशन की ।
झलक दिखा तो पूरी हो,
आशा मेरे जीवन की ।।

बहुत दूर से आया हूँ मैं, अबकी बार न ठुकराना,
यदि हो सके जननि तो, मेरे अन्तःपुर में रह जाना;
साध नहीं अब मेरे चित में,
जग के नश्वर धन-जन की ।। झलक. ।।

कैसे ग्रहण करूँगा भिक्षा, पात्र नहीं है मेरे पास,
जो कण-मात्र मिले तो भी, पूरी होगी 'विदेह' की आस;
चिर कृतज्ञ हो जाऊँगा मैं,
ताप मिटेगी तन-मन की ।। झलक. ।।

– २ –

(भैरवी-कहरवा)

जननी, शरण तुम्हारी आया ।
चित्त भ्रमर मम, छोड़ विषय-भ्रम,
पद जलजात लुभाया ।।

देख सभी में तेरी सूरत, सेवारत मैं रहता अविरत;
शुद्ध हुआ अब तो मेरा चित,
कण-कण तुझको पाया ।।

तेरे आलय जग में रहता, तेरी बातें सुनता कहता;
विचरण है तेरी प्रदक्षिणा,
निद्रा ध्यान लगाया ।।

खाद्य पेय तेरा प्रसाद है,
दूर हुआ सारा विषाद है;
दृष्टि बदल करके 'विदेह', जग-
जीवन सफल बनाया ।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

जहाँ तक व्याख्यानों का सवाल है, मैंने उनसे रुपये कमाना छोड़ दिया है। मैं स्वयं को इतना पतित नहीं कर सकता। जब तक **एक विशेष उद्देश्य** आँखों के सामने था, तब तक मैं वैसा कर सकता था; अब उसके चले जाने पर मैं अपने लिये पैसे नहीं कमा सकता। वापस लौटने के लिये मेरे पास यथेष्ट धन है। मैंने यहाँ एक भी पैसा कमाने का प्रयास नहीं किया और उन उपहारों को भी लेने से मना कर दिया, जो यहाँ के मित्रगण मुझे देना चाहते थे।... डिट्राएट में मैंने दाताओं के पैसे लौटाने की चेष्टा की और उन्हें बताया कि चूँकि मुझे अब अपनी योजना में सफलता की कोई आशा नहीं है, अत: उनके पैसे रखने का मुझे कोई अधिकार नहीं; पर उन लोगों ने इससे साफ इनकार कर दिया और कहा कि मैं चाहूँ तो उसे पानी में फेंक दूँ। पर जानते हुए अब मैं और धन नहीं स्वीकार कर सकता। माँ, मुझे किसी चीज की कमी नहीं है। प्रभु सर्वत्र दयालु लोगों और घरों का प्रबन्ध कर देते हैं; अत: मेरे लिये इस पाशविक सांसारिकता में लिप्त होने की कोई जरूरत नहीं।

यद्यपि न्यूयार्क के लोग बोस्टनवासियों जितने बौद्धिक नहीं हैं, तथापि मुझे लगता है कि वे लोग कहीं अधिक सच्चे हैं। बोस्टनवासी हर चीज का लाभ उठाना जानते हैं; और मुझे आशंका है कि उनकी बन्द मुट्ठियों से पानी की एक बूँद तक नहीं निकल सकती !! भगवान उनका भला करें !! मैंने वहाँ जाने का वचन दिया है और मैं अवश्य जाऊँगा; परन्तु हे प्रभो, मुझे निश्छल, अज्ञानी तथा निर्धनों के बीच रहने का अवसर दो और उन मिथ्याचारियों तथा बड़बोलों की छाया तक से दूर रखो, जो मेरे गुरुदेव के शब्दों में उन गिद्धों के समान हैं, जो अपनी बातों में तो बड़ी-बड़ी ऊँचाइयों पर उड़ते रहते हैं, परन्तु उनका हृदय वस्तुत: धरती पर पड़े हुए सड़े-गड़े मांस के टुकड़ों में ही लगा रहता है।...

कुछ दिनों पूर्व मैं बारनम का सर्कस देखने गया था। निश्चय ही यह एक बड़ी भव्य चीज है। अभी तक मैं नगर के व्यापारिक अंचलों में नहीं गया हूँ। यह सड़क बड़ी अच्छी और शान्त है। कुछ दिन पूर्व मैंने बारनम में एक बड़ा ही सुन्दर संगीत सुना – वे लोग इसे स्पैनिश सेरेनाडा कहते हैं। यह जो कुछ भी रहा हो, पर मुझे तो बड़ा पसन्द आया।[२७]

पाश्चात्य संगीत बहुत उत्कृष्ट है। उसमें गीतमाधुरी, लय उस चरम सीमा को प्राप्त हो चुकी है, जो हमारे संगीत में नहीं है। यह और बात है कि हमारे अनभ्यस्त कानों को पाश्चात्य संगीत रुचिकर प्रतीत नहीं होता, और हम सोचते हैं कि वे सियारों के समान चिल्लाते हैं। पहले मेरा भी यही ख़याल था, पर जब मैंने उनके संगीत को ध्यानपूर्वक सुनना शुरू किया और उस शास्त्र का अध्ययन किया, तो प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका।[२८]

न्यूयार्क, २६ अप्रैल १८९४ : भारत से आयी डाक, जो मुझे तुमने कल भेजी है, सचमुच ही जैसा 'मदर चर्च' ने अपने पत्र में लिखा है, दीर्घ काल के बाद मिला एक शुभ संवाद है। दीवानजी का एक बड़ा सुन्दर पत्र आया है। उन वयोवृद्ध सज्जन ने हमेशा की तरह मदद का प्रस्ताव किया है। प्रभु उनका भला करें। फिर कलकत्ता में प्रकाशित मेरे बारे में एक पुस्तिका है – स्पष्ट है कि मेरे जीवन काल में ही कम-से-कम एक बार इस पैगम्बर को अपने देश में ही सम्मान प्राप्त हुआ। इसमें भारतीय तथा अमेरिकी समाचार-पत्रों में मेरे बारे में प्रकाशित सामग्री के उद्धरण हैं। कलकत्ते के अखबारों में प्रकाशित उद्धरण तो विशेष सन्तोषप्रद हैं, पर इनकी अतिशयोक्तिपूर्ण लेखन-शैली के कारण मैं इन्हें तुम्हारे पास न भेजूँगा। उनमें मुझे सुप्रसिद्ध, अद्भुत और इसी तरह की बेकार की बातों से विभूषित किया गया है, परन्तु उन्होंने मुझे समग्र जाति की कृतज्ञता भी भेजी है। अब सिर्फ एक बात के सिवा मुझे कोई चिन्ता नहीं है कि मेरे देशवासी या अन्य लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं। मेरी वृद्धा माँ हैं, जो आजीवन कष्ट सहती रहीं और उन कष्टों के

बीच भी मुझे ईश्वर और मानव के सेवार्थ अर्पित किया। परन्तु उन्होंने अपनी जिस सबसे प्रिय सन्तान – अपनी जिस आशा का त्याग किया – यह संवाद कि वह दूर देश में घोर पाशविक जीवन बिता रहा है, जैसा मजूमदार कलकत्ते में प्रचारित कर रहे हैं, उनका प्राण ही हर लेगा। पर प्रभु महान् हैं; उनकी सन्तान को कोई चोट नहीं पहुँचा सकता।

मेरी ओर से बिना किसी प्रयास के ही भेद खुल गया। वहाँ का एक प्रमुख समाचार-पत्र मेरी इतनी प्रशंसा करता है और ईश्वर को धन्यवाद देता है कि मैं हिन्दूधर्म का प्रतिनिधित्व करने अमेरिका आया, जानती हो उसका सम्पादक कौन है? वह मजूमदार का चचेरा भाई है !! बेचारा मजूमदार ! ईर्ष्यावश उसने झूठ बोलकर अपना ही अहित किया है। ईश्वर जानता है कि मैंने अपनी सफाई देने का कोई प्रयास नहीं किया।[२९]

न्यूयार्क, १ मई १८९४ : मुझे यहाँ अपने कोट के लिए उचित नारंगी रंग का वस्त्र नहीं मिल सका, अत: जो उससे सर्वाधिक मिलता-जुलता मिला – पीलेपन की अधिकता लिये हुये गहरे लाल रंग का – उसी से सन्तोष करना पड़ा। कुछ दिनों में कोट तैयार हो जायेगा।

कुछ दिन पूर्व वाल्डोर्फ में दिये व्याख्यान से मुझे ७० डालर प्राप्त हुए। कल के व्याख्यान से आशा है, कुछ अधिक ही प्राप्त होंगे। ७ से १७ तारीख तक बोस्टन में कार्यक्रम है, पर वे लोग बहुत कम देते हैं।

कल मैंने १३ डालर का एक पाइप खरीदा है – 'फादर पोप' से इसका जिक्र न करना। कोट में ३० डालर लगेंगे। मुझे खाना ठीक मिल रहा है... और पर्याप्त रुपये भी। अगले व्याख्यान के बाद बैंक में कुछ जमा करवा सकूँगा। ...

शाम को मैं एक निरामिष भोज में बोलने जा रहा हूँ। ... परसों लीमन एबॉट के यहाँ एक और मध्याह्न भोज का निमंत्रण है। मेरा समय बहुत अच्छा बीत रहा है, बोस्टन में भी बहुत अच्छा बीतेगा, सिर्फ उस फालतू लेक्चरबाजी को छोड़कर ! जैसे ही १९वीं तारीख बीतेगी – बोस्टन से शिकागो, एक छलाँग... और फिर आराम और विश्राम की एक लम्बी साँस, दो-तीन हफ्ते तक विश्राम। बस, बैठा रहूँगा और बातें करूँगा, बातें और धूम्रपान।

हाँ, तुम्हारे न्यूयार्क के लोग बड़े भले हैं, सिर्फ उनके पास बुद्धि की अपेक्षा धन अधिक है।

मैं हार्वर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बीच व्याख्यान देने जा रहा हूँ। श्रीमती ब्रीड ने बोस्टन और हार्वर्ड में तीन-तीन व्याख्यान आयोजित किये हैं। यहाँ भी लोग कुछ का आयोजन कर रहे हैं, अत: मैं शिकागो जाते समय एक बार फिर न्यूयार्क जाऊँगा और उन्हें दो-चार जोरदार बातें सुनाकर पैसे जेब में भर लूँगा और शिकागो उड़ जाऊँगा। दुनिया में यदि मैं किसी चीज से नफरत करना हूँ, तो पाखण्ड से।[३०]

बोस्टन, मई १८९४ : संग्रह नहीं, बल्कि त्याग ही हमारा आदर्श है। यदि मेरे सिर पर एक धुन सवार न होती, तो मैं यहाँ कभी आता ही नहीं। मैं इसी आशा से यहाँ आया था कि धर्म-महासभा में भाग लेने पर मेरे कार्य को सहायता मिलेगी; अन्यथा हमारे देशवासी जब भी मुझे यहाँ भेजना चाहते, तो मैं उन्हें हमेशा मना करता रहा। मैं उनसे यही कहकर आया हूँ, "यदि आप मुझे भेजना चाहें, तो भेजें, पर महासभा में भाग लेना या न लेना, मेरे ऊपर निर्भर करता है।" उन्होंने मुझे स्वाधीनता देकर ही यहाँ भेजा है। ...

बूढ़े मिशनरियों के आक्रमण की मैं चिन्ता नहीं करता, पर मजूमदार ईर्ष्या के जिस ज्वर का शिकार हुए, उसे देख कर मुझे बड़ा आघात लगा। मैं प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें सद्बुद्धि प्राप्त हो, क्योंकि वे एक महान् और उत्तम व्यक्ति हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन सत्कार्य में लगाया है। इससे मेरे गुरुदेव का वह कथन सिद्ध हो जाता है – **काजल की कोठरी में कैसा भी सयाना जाय, काजल की रेख वा पे लगे ही लगे।** इसलिए कोई कितना भी पवित्र और सदाशय बनने की चेष्टा क्यों न करे, जब तक वह इस संसार में है, उसकी प्रकृति का कुछ-न-कुछ अंश अधोगामी हो ही जाता है !

ईश्वर का मार्ग संसार-पथ के विपरीत है। ईश्वर और कुबेर की साथ-साथ सिद्धि बहुत कम लोगों को होती है।

मैं कभी मिशनरी नहीं रहा, और न कभी बनूँगा ! मेरा स्थान तो हिमालय में है। अब तक मैंने अपने को सन्तुष्ट रखा है और मैं पूर्ण सन्तोष के साथ कह सकता हूँ, "मेरे प्रभु ! मैंने अपने भाइयों को भयानक कष्ट के बीच देखा; मैंने इससे उनकी मुक्ति का मार्ग खोज निकाला, मैंने उस उपाय के प्रयोग करने का पूरा यत्न किया, पर असफल रहा। अब तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।[३१]

बोस्टन, १४ मई १८९४ : ओह, ये लोग इतने नीरस हैं ! यहाँ तक कि लड़कियाँ भी शुष्क दर्शन पर ही चर्चा करती हैं। यहाँ भी सब कुछ हमारे बनारस जैसा है, जहाँ केवल शुष्क और शुष्क दर्शन मात्र है !! यहाँ पर कोई भी 'मेरे प्रियतम' (प्रभु) को नहीं समझता। इन लोगों के लिये धर्म का अर्थ है केवल तर्क, और वह भी पत्थर के समान अति कठोर। मैं ऐसे किसी भी व्यक्ति की परवाह नहीं करता, जो मेरे 'प्रियतम' से प्रेम नहीं कर सकता।...

हमारी जनता ब्राह्मसमाज को इसलिये इतना अधिक नापसन्द करती है कि वे लोगों को केवल यही दिखाने का मौका ढूँढ़ते रहते हैं। मुझे यह पसन्द नहीं। कुछ विशेष व्यक्तियों के प्रति कितनी भी शत्रुता का भाव उनके जीवन-भर के सत्कर्मों को मिटा नहीं सकता। वे लोग धर्म के राज्य में केवल शिशु मात्र थे। उन लोगों में धार्मिकता का प्राचुर्य कभी नहीं रहा। अर्थात् वे लोग केवल बातें तथा तर्क करना

चाहते थे; कभी 'प्रियतम' को देखने के लिये कष्ट नहीं उठाया; और जब तक कोई ऐसा नहीं करता, तब तक मैं उसे धार्मिक नहीं कह सकता। उसके पास बहुत-सी पुस्तकें, अनुष्ठान, सिद्धान्त, शब्द, तर्क आदि हो सकते हैं, परन्तु धर्म नहीं होता; क्योंकि धर्म तब शुरू होता है, जब अन्तरात्मा को 'प्रियतम' के लिये आवश्यकता, अभाव, व्याकुलता का बोध होने लगता है, उसके पहले कदापि नहीं।[३२]

शिकागो, २४ मई १८९४ : मैं खेतड़ी के महाराजा का एक पत्र आपके पास भेज रहा हूँ जो राजपूताना के वर्तमान राजाओं में एक हैं। दूसरा पत्र वर्तमान अफीम कमिश्नर का है, जो भारत के बड़े राज्यों में से एक जूनागढ़ के भूतपूर्व दीवान रहे हैं और जिन्हें भारत का ग्लैडस्टोन कहा जाता है। मैं आशा करता हूँ कि इनसे आपको विश्वास हो जायेगा कि मैं ठग नहीं हूँ। ...

मेरे प्रिय मित्र, मैं इस बात के लिए आपको हर प्रकार से सन्तुष्ट करने को बाध्य हूँ कि मैं एक सच्चा संन्यासी हूँ, लेकिन सिर्फ आपको ही। लोग मेरे बारे में क्या कहते और सोचते हैं, इसकी मुझे जरा भी परवाह नहीं है। प्राचीन काल में संन्यास ग्रहण करने वाले एक वृद्ध राजा भर्तृहरि का कथन है, "कोई तुम्हें सन्त कहेगा तो कोई चाण्डाल, कोई तुम्हें पागल कहेगा तो कोई दानव! अत: सबकी अनसुनी करके सीधे अपने कार्य में लगे रहो।"[३३]

शिकागो, २८ मई १८९४ : मैं निरन्तर न्यूयार्क से बोस्टन के बीच घूमता रहा।... नहीं जानता कि मैं भारत कब लौटूँगा। जो मेरे पीछे रहकर जो मुझे चला रहे हैं, उन्हीं के हाथों में सब कुछ छोड़ देना अच्छा है।... मैंने यहाँ बहुत-से व्याख्यान दिये हैं।... यहाँ खर्च बहुत होता है। यद्यपि प्राय: सर्वदा और सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ और सुन्दरतम गृहों में मेरा सत्कार किया गया है, तो भी रुपये मानो उड़ ही जाते हैं।[३४]

१८ जून, १८९४ : अगले सप्ताह मैं न्यूयार्क जाऊँगा। ... बोस्टन के समाचार-पत्र के मेरे विरोधी उस लेख से श्रीमती बाग्ली विचलित-सी हो गयी लगती हैं। डिट्रॉएट से उन्होंने मुझे उसकी एक प्रति भेज दी और मुझसे पत्राचार बन्द कर दिया। उन पर प्रभु का आशीर्वाद हो। वे मेरे प्रति अत्यन्त कृपालु रही हैं। ...

हमारा यह संसार एक बड़ा ही विचित्र स्थान है। लेकिन मुझ जैसे एक निरे अजनबी को, जिसके पास कोई परिचय-पत्र भी न था, इस देश के लोगों से जितनी सहृदयता मिली है, उसके लिये मैं प्रभु का अत्यन्त आभारी हूँ। सब कुछ आखिरकार मंगलमय ही होता है।[३५]

शिकागो, वसन्त ऋतु १८९४ : इस देश में दो-तीन वर्ष तक व्याख्यान देने से धन संग्रह किया जा सकता है। मैंने कुछ प्रयास किया है और यद्यपि यहाँ की जनता में मेरे काम का बहुत सम्मान है, तो भी यह काम मुझे अत्यन्त अरुचिकर और अनैतिक प्रतीत होता है।[३६]

शिकागो, २० जून १८९४ : मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि पीठ-पीछे मेरी निन्दा करनेवालों ने परोक्ष रूप से मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचाया, बल्कि इस दृष्टि से मेरा घोर अपकार ही किया है कि हमारे हिन्दू भाइयों ने अमेरिकियों को यह बताने के लिए अपनी उंगुली तक नहीं हिलायी कि मैं उनका प्रतिनिधि हूँ। काश, हमारी जनता मेरे प्रति अमेरिकियों की सहृदयता के निमित, उनके प्रति धन्यवाद के कुछ शब्द भेज पाती और बताती कि मैं उनका प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। दूसरी ओर मजूमदार और बम्बई से आये नगरकर नामक एक व्यक्ति तथा पूना से आयी सोराबजी नाम की एक ईसाई महिला अमेरिकियों से कहते फिर रहे हैं कि मैंने अमेरिका में ही संन्यासियों के वस्त्र धारण किये हैं, और मैं एक धूर्त हूँ। जहाँ तक मेरे स्वागत का प्रश्न है, इसका अमेरिकी जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा; परन्तु जहाँ तक धन द्वारा मेरी सहायता का प्रश्न है, इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्होंने मेरी सहायता करने से अपने हाथ खींच लिये। मैं यहाँ एक वर्ष से हूँ, पर किसी भी प्रतिष्ठित भारतीय ने अमेरिकियों को यह बताना उचित नहीं समझा कि मैं ठग नहीं हूँ। फिर यहाँ मिशनरी लोग सदा मेरे विरुद्ध कही गयी बातों की ताक में रहते हैं और भारत के ईसाई पत्रों द्वारा मेरे विरुद्ध लिखी गयी बातें खोजने और यहाँ प्रकाशित कराने में व्यस्त रहते हैं। आपको विदित होना चाहिए कि यहाँ के लोग भारत में ईसाई एवं हिन्दू में अन्तर के बारे में बहुत कम जानते हैं।...

भारत में एक देवमानव का जन्म हुआ। वे थे महान् श्रीरामकृष्ण परमहंस। उन्हीं को केन्द्र मानकर यह दल धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इन्हीं लोगों से यह काम होगा।... इसके लिए एक संगठन की जरूरत है, रुपयों की जरूरत है – भले ही अल्प रुपयों की, ताकि काम शुरू किया जा सके। भारत में हमें धन कौन देता? इसीलिए ... मैं अमेरिका चला आया। आपको शायद याद हो कि मैंने सारा धन गरीबों से माँगा था और धनियों के दान को मैं इसलिए अस्वीकार कर देता था कि वे मेरे भावों को नहीं समझ पाते थे। मैं इस देश में पूरे साल भर व्याख्यान देता रहा, पर मुझे अपना कार्य शुरू करने हेतु धन-संग्रह की योजना में जरा भी सफलता नहीं मिली (वैसे मुझे अपने लिए कोई अभाव नहीं हुआ)। पहली बात यह कि यह साल अमेरिका के लिए बहुत बुरा है; हजारों गरीब बेरोजगार हैं। दूसरी, मिशनरी तथा ब्राह्मसमाजी मेरे विचारों में बाधा डालने की चेष्टा कर रहे हैं। तीसरी बात यह कि एक साल गुजर गया और हमारे देशवासी मेरे लिए इतना भी नहीं कर सके कि अमेरिका के लोगों से वे कहते कि मैं एक ठग नहीं, बल्कि एक यथार्थ संन्यासी हूँ और

हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। इतना भी, ये थोड़े-से शब्द भी वे व्यय नहीं कर सके। शाबाश, मेरे देशवासियो !...

मानवीय सहायता की मैं परवाह नहीं करता। मुझे आशा है कि जो सदा पर्वतों और घाटियों में, मरुस्थलों और जंगलों में मेरे साथ रहे हैं, वह मेरे साथ रहेगा; और यदि ऐसा न हुआ, तो फिर भारत में कभी मुझसे भी कहीं अधिक सुयोग्य किसी वीर का उदय होगा, जो इस कार्य को सम्पन्न करेगा। ... मैं पूर्णत: ईमानदार हूँ और मुझमें सबसे बड़ा दोष यही है कि मुझे अपने देश के प्रति बहुत, बहुत अधिक प्रेम है।[३७]

शिकागो, २८ जून १८९४ : जहाँ तक यहाँ मेरे कार्य-विस्तार का प्रश्न है, इसकी आशा अब नहीं के बराबर है। यद्यपि मेरा उद्देश्य सबसे अच्छा था, किन्तु निम्नलिखित कारणों से उसके कार्यान्वित होने की सम्भावना समाप्त हो गयी है। भारत के जो समाचार मुझे मिलते हैं, वे मद्रास के पत्रों से ही मिलते हैं। तुम लोगों के पत्रों से मुझे बराबर यह समाचार मिल रहा है कि भारत में सभी लोग मेरी प्रशंसा कर रहे हैं। पर यह तो हमारे और तुम्हारे सिवा अन्य किसी को पता ही नहीं चलेगा, क्योंकि आलासिंगा द्वारा भेजे गये एक समाचार-पत्र के तीन वर्गइंच अंश को छोड़ अन्य किसी भी भारतीय पत्र में मेरे बारे में कभी कुछ प्रकाशित हुआ है, ऐसा मुझे देखने को नहीं मिला। दूसरी ओर मिशनरी लोग भारत में ईसाइयों के वक्तव्यों को यत्नपूर्वक एकत्र करके नियमित रूप से प्रकाशित कर रहे हैं और घर-घर जाकर प्रयास कर रहे हैं कि मेरे मित्र मुझे त्याग दें। वे अपने उद्देश्य में पूर्णत: सफल हो चुके हैं, क्योंकि भारत से मेरे समर्थन में एक शब्द भी नहीं आया है। भारत की हिन्दू पत्रिकाओं ने खूब बढ़ा-चढ़ाकर मेरी प्रशंसा की होगी, पर उनकी एक भी बात यहाँ नहीं पहुँची। अत: यहाँ बहुत-से लोग मुझे ठग समझ रहे हैं। एक तो मिशनरी लोग मेरे पीछे पड़े हुए हैं, साथ ही यहाँ के हिन्दू भी ईर्ष्यावश उनका साथ दे रहे हैं, ऐसी दशा में उन्हें जवाब देने के लिए मेरे पास एक शब्द भी नहीं है।

अब तो मेरी यह धारणा बनती जा रही है कि मद्रास के कुछ छोकरों के आग्रह पर धर्मसभा में भाग लेकर मैंने मूर्खता की, क्योंकि आखिर वे छोकरे ही ठहरे। उन लोगों के प्रति मेरी अपार कृतज्ञता है, तो भी वे कुछ उत्साही कार्य-क्षमता-हीन युवक ही तो हैं। मैं अपने साथ कोई परिचय-पत्र नहीं लाया हूँ। मिशनरी तथा ब्राह्मसमाजियों के समक्ष मैं यह कैसे प्रमाणित करूँ कि मैं ठग नहीं हूँ? ... वर्ष भर में मेरे समर्थन में एक भी स्वर सुनने में न आया। सभी मेरे विरोध ही में उच्चरित हुए, क्योंकि तुम अपने-अपने घर पर बैठकर मेरे बारे में कुछ भी क्यों न कहो, यहाँ उसके बारे में किसी को क्या मालूम? आलासिंगा को मैंने इस बारे में लिखा था। इस बात को दो महीने से भी अधिक समय हो गया, पर उसने मुझे जवाब तक नहीं दिया। मुझे लगता है कि उसका उत्साह धीमा पड़ गया है।... इधर मेरे गुरुभाई लोग नासमझों की तरह केशव सेन के बारे में बकवास कर रहे हैं और मद्रासी लोग भी, थियोसॉफिस्टों के बारे में मैं जो कुछ उनको लिखता हूँ, उसे उनके सामने रखकर शत्रुओं की संख्या बढ़ा रहे हैं।... हाय ! यदि भारत में मेरी सहायता करने के लिए मुझे एक भी थोड़ी-बहुत सच्ची योग्यता से सम्पन्न बुद्धिमान व्यक्ति मिलता ! खैर, प्रभु की इच्छा ही पूर्ण हो – मैं तो इस देश में एक ठग ही साबित हुआ। यह मेरी मूर्खता हुई कि कोई परिचय-पत्र लिए बिना मैं धर्मसभा में शामिल हो गया। आशा थी कि यहाँ मुझे बहुत-से मिल जायेंगे, किन्तु अब मुझे अकेले ही धीरे-धीरे कार्य करना होगा। ... मुझे स्वयं ही अपना प्रारब्ध भोगना होगा। जहाँ तक मेरी आर्थिक स्थिति का सवाल है, वह ठीक है और ठीक ही रहेगी।...

प्रतिक्षण मैं यही आशा लगाये बैठा रहा कि भारत से मुझे कुछ सहायता अवश्य मिलेगी, पर वह कभी नहीं मिली। खासकर पिछले दो महीनों से हर घड़ी मैंने चरम पीड़ा का अनुभव किया – भारत से एक भी समाचार-पत्र मुझे नहीं मिला ! मेरे मित्रों ने प्रतीक्षा की – महीनों तक प्रतीक्षा करते रहे, पर कुछ भी नहीं आया। एक आवाज तक नहीं आयी। इसके फलस्वरूप बहुतों का उत्साह भंग हो गया और अन्त में उन लोगों ने मुझे त्याग दिया। यह दण्ड मुझे मनुष्यों पर ... निर्भर रहने का मिला है। ...

मद्रासी युवकों को मैं असंख्य धन्यवाद देता हूँ – प्रभु उनका सदा कल्याण करें।... मैं सर्वदा उन लोगों की मंगल-कामना कर रहा हूँ। उन पर मैं बिल्कुल असन्तुष्ट नहीं हूँ, मुझे अपने पर ही असन्तोष है। अपने जीवन में पहली बार मैंने दूसरों की सहायता पर निर्भर रहने की भयानक भूल की और उसी का फल भुगत रहा हूँ। दोष मेरा ही है, उन लोगों का नहीं। प्रभु सभी मद्रासियों का कल्याण करें।... मैंने अपनी नाव को खोल दिया है – जो कुछ होना हो, होने दो। मेरी कठोर आलोचना के लिए मुझे क्षमा करना। वास्तव में ऐसा करने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।... जैसा मेरा भाग्य है, तदनुसार मुझे फल भी मिलेगा। बिना बड़बड़ाये मुझे सब कुछ सहन करना पड़ेगा।[३८] ❖ **(क्रमश:)** ❖

सन्दर्भ-सूची –

२७. The Complete Works, खण्ड ९, पृ. १८-९; **२८.** साहित्य, खण्ड ८, पृ. २४६; **२९.** वही, खण्ड २, पृ. ३४४-४५; **३०.** वही, खण्ड २, पृ. ३४६-४७; **३१.** वही, खण्ड २, पृ. ३५१-५२; **३२.** The Complete Works, खण्ड ९, पृ. २२; **३३.** साहित्य, खण्ड २, पृ. ३५३; **३४.** वही, खण्ड २, पृ. ३५५; **३५.** वही, खण्ड २, पृ. ३५८; **३६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३४३; **३७.** वही, खण्ड २, पृ. ३६४; **३८.** वही, खण्ड २, पृ. ३७४
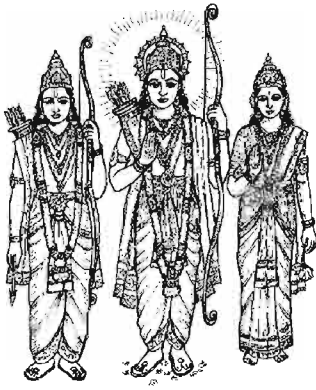
रामराज्य की भूमिका (२/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)
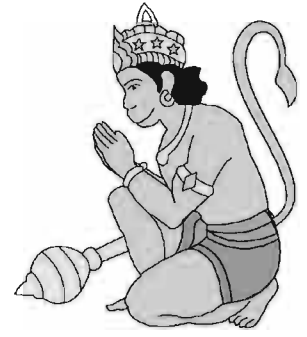
राम राज बैठें त्रैलोका।
हरषित भए गए सब सोका।।
बयरु न कर काहू सन कोई।
राम प्रताप बिषमता खोई।। ७/२०/८

– श्री रामचन्द्र के राजा होने पर तीनों लोक हर्षित हो गए, उनके सारे शोक जाते रहे। कोई किसी से वैर नहीं करता था। श्रीराम के प्रताप से सबकी विषमता (भेदभाव) मिट गई ।।

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ।।७/२०

– सभी अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल आचरण करते हुए सदा वेदमार्ग पर चलते और सुख पाते हैं। उन्हें न किसी तरह का भय है, न शोक है, न कोई रोग ही होता है ।।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, समुपस्थित कथारसिक बन्धुओ और भक्तिमति देवियो, कल आदरणीय स्वामीजी ने रामराज्य के सन्दर्भ में जो प्रश्न रखे थे – रामराज्य क्या है और भगवान राम के चरित्र में कुछ विसंगतियाँ दिखाई देती हैं, उनका क्या तात्पर्य है? उनका प्रश्न किसी खण्डनात्मक सन्दर्भ में या विवाद के सन्दर्भ में नहीं था, अपितु ये प्रश्न बड़े स्वाभाविक हैं और इसके बहाने हमें श्रीराम-चरित-मानस के विभिन्न पक्षों का परिचय प्राप्त हो सकता है। यह प्रसंग वस्तुत: बड़ा व्यापक है और मैं यथासम्भव उसके विविध पक्षों को स्पर्श करने की चेष्टा करूँगा।

जब रामराज्य शब्द का प्रयोग करते हैं तो साधारण व्यक्ति के मन में इस शब्द को सुनकर जो धारणा उत्पन्न होती है, उस धारणा का भी महत्त्व तो है, पर पूरे अर्थों में उनकी धारणा रामराज्य के सन्दर्भ में सही नहीं है। रामराज्य अगर इस दृष्टि से माने कि जिस राज्य की व्यवस्था सुव्यवस्थित हो, राष्ट्र व्यवस्थित हो, वह राज्य रामराज्य है। साधारण व्यक्ति के मन में यही कल्पना होती है। वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति और उसके साथ-साथ समाज में व्यवस्था चाहता है, जिससे वह पूरी तरह से स्वतंत्र रहकर सुखों का भोग कर सके। व्यक्ति की तो यह चाह स्वाभाविक है। गोस्वामीजी भी जब रामराज्य का वर्णन करते हैं, तो इन लक्षणों को महत्त्व देते हैं। वे रामराज्य का वर्णन करते हुए यह भी स्वीकार करते हैं कि रामराज्य में न कोई दरिद्र था, न कोई दुखी था और न कोई दीन था। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसको हम मूर्ख कह सकें, अबुध (बुद्धिहीन) कह सकें और जिनमें मनुष्यता के श्रेष्ठतम लक्षण विद्यमान न हों, ऐसा कोई नागरिक रामराज्य में नहीं था –

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना ।
नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ।। ७/२१/५
राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं ।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं ।। ७/२१

उपरोक्त पंक्तियों में वे रामराज्य का जो वर्णन करते हैं इसकी भी आवश्यकता है, किन्तु यह रामराज्य का समग्र लक्षण नहीं है, विशेषकर तुलसीदास जी ने रामराज्य और उसका जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह तो एक बड़ा बृहत् आदर्श है और उसकी पूर्ति के लिए व्यक्ति के जीवन में कठिन प्रयत्न की आवश्यकता है, साधना की आवश्यकता है। समस्या व्यक्ति और समाज की है। व्यक्ति अलग-अलग दिखाई देने पर भी वह समाज का एक अंग है, अकेला नहीं रह सकता। तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति और समाज – इन दोनों में सामंजस्य की कैसे स्थापना हो? यदि सामंजस्य नहीं होगा, तो समाज में संघर्ष होगा, टकराहट होगी। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और समाज के सामंजस्य के लिए ही शासनतंत्र में शासन के नये-नये प्रयोग किए जाते हैं। यदि हम प्रारम्भ से लेकर अब तक के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो इस शासन-व्यवस्था के लिए ही ये विविध प्रकार के तंत्रों की स्थापना की जाती है और उसे क्रियान्वित किया जाता है। ये तंत्र कभी-कभी उपयोगी जान पड़ते हैं, पर कुछ दिनों बाद उसमें दोष दिखाई देने लगता है और तब व्यक्ति शासन के सन्दर्भ में, राज्य के सन्दर्भ में नये प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार यह समस्या शाश्वत है।

श्रीराम-चरित-मानस में इसे एक बहुत ही उच्च पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है। रामराज्य का अर्थ व्यवस्थित राज्य ही नहीं है। जहाँ तक व्यवस्थित राज्य का सम्बन्ध है, लंका का जो वर्णन 'मानस' में किया गया है, उसे पढ़कर यही धारणा होती है कि लंका का राज्य अत्यन्त उत्कृष्ट राज्य था

और रावण बड़ा उत्कृष्ट शासक था। व्यवस्था की दृष्टि से लंका में रंचमात्र भी कोई त्रुटि नहीं थी। यह भी नहीं कि लंका में वितरण की व्यवस्था अच्छी न रही हो। लंका में समृद्धि है, स्वास्थ्य है, सौन्दर्य है, शिक्षा है, नगरों का निर्माण बड़ी अद्भुत पद्धति से हुआ है, नगर तथा राष्ट्र की सुरक्षा का बड़ा उत्तम प्रबन्ध है। इस प्रकार यदि हम लंका पर दृष्टि डालें, तो लगता है कि लंका एक महानतम राष्ट्र था। आज के किसी महानतम राष्ट्र की अपेक्षा भी वह महान् प्रतीत होता है। रावण ने जब लंका पर अधिकार किया, तो उसको इस बात का भान था कि हर व्यक्ति को लंका की समृद्धि मिलनी चाहिए। समाज में बँटवारे का प्रश्न बड़े महत्त्व का होता है। व्यक्ति की लालसा आत्मकेन्द्रित होती है और वह सब कुछ अपने लिए ही पा लेना चाहता है। राज्य का तात्पर्य है कि वह व्यक्ति के और समाज के स्वार्थ में सामंजस्य स्थापित करे, इसके लिए वितरण की समुचित व्यवस्था करे। वितरण की समुचित व्यवस्था भी लंका के राज्य में थी। गोस्वामीजी कहते हैं कि लंका पर अधिकार करते ही रावण ने लंका में जो व्यक्ति जिस योग्य था, उसी के आधार पर लंका के घर बाँट दिए। यह भी लिखा है कि रावण ने पूरी लंका के राक्षसों को सुखी बनाया –

जेहि जस जोग बाँटि गृह दीन्हे ।
सुखी सकल रजनीचर कीन्हे ।। १/१७९/७

रावण के अन्त:करण में सभी के सुख की चिन्ता थी। राक्षसों के प्रति भी उसका बड़ा सद्-व्यवहार है या उसमें बड़ी सहिष्णुता है। लगता है कि विचार की दृष्टि से रावण बड़ा सहिष्णु था, क्योंकि विभीषण और रावण की धारणाओं में काफी अन्तर था, तो भी रावण ने उनकी इच्छा के अनुकूल पूजा-साधना की छूट दे दी थी। उनका हरि-मन्दिर अलग बना हुआ था। रावण स्वयं हरि का विरोधी होते हुए भी उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। अत: रावण सहिष्णु भी प्रतीत होता है। वितरण की व्यवस्था भी है। सारे राक्षसों को सुखी करने का प्रयत्न भी है। लंका में जो सुख-समृद्धि और स्वास्थ्य है, उसका चित्र आपने सुन्दरकाण्ड में पढ़ा होगा। हनुमानजी ने लंका को जितनी गहराई से देखा, उतनी गहराई से शायद रावण ने भी कभी नहीं देखा होगा। क्योंकि आप पढ़ते हैं कि हनुमानजी सीताजी की खोज में लंका गये और वहाँ कोई भी ऐसा स्थान नहीं था, जिसके भीतर पैठकर देखने की चेष्टा न की हो। उन्होंने लंका को बाहर से भी देखा था और भीतर से भी देखा था, ऊपर से भी देखा था और नीचे से भी देखा था। समुद्र पार करके जब वे लंका में पहुँचे, तो वे वहाँ के सबसे ऊँचे स्थान त्रिकूट पर्वत के शिखर पर खड़े हो गये, लंका को देखा, उनकी उस राष्ट्र की समृद्धि पर दृष्टि गई। बड़ा आकर्षक वर्णन है –

जहाँ के परकोटे भी सोने और मणि के बने हुए हैं। जहाँ सारे भवन भी सोने के हैं। नगर का निर्माण कैसे हुआ है। चौराहे, बाजार, सुन्दर मार्ग और गलियाँ हैं –

कनक कोटि बिचित्र मनि कृत सुंदरायतना घना ।
चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारु पुर बहु बिधि बना ।।

वहाँ सुरक्षा और सेना का प्रबन्ध कैसा है? कहीं पर्वत के जैसे विशाल शरीरवाले बड़े ही बलवान पहलवान गरज रहे हैं। वे अनेकों अखाड़ों में बहुत प्रकार से भिड़ते और एक-दूसरे को ललकारते हैं। हाथी, घोड़े, खच्चरों के समूह तथा पैदल और रथों के समूहों को कौन गिन सकता है! अनेक रूपों के राक्षसों के दल हैं, उनकी अत्यन्त बलवती सेना और वहाँ के राक्षसों के स्वास्थ का वर्णन करते नहीं बनता –

कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं ।
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुबिधि एक एकन्ह तर्जहीं ।।
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथन्हि को गनै।
बहुरूप निसिचर जूथ अतिबल सेन बरनत नहिं बनै ।।

उसके पश्चात कहा गया – वन, बाग, उपवन (बगीचे), फुलवाड़ी, तालाब, कुएँ और बावलियाँ सुशोभित हैं –

बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापीं सोहहीं ।

कल्पना हुई कि लंका में सब कुरुप ही होते होंगे, क्योंकि राक्षसों की कल्पना कुरूपता से जुड़ी है। तो कहते हैं – वहाँ मनुष्य, नाग, देवताओं और गन्धर्वों की कन्याओं का ऐसा सौन्दर्य है, जिसे देखकर मुनियों के मन में भी आकर्षण का उदय हो जाता है –

नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं ।। ५/३

यह है लंका का एक चित्र। लंका में कौन-सी कमी है। लंका में कितना सुरक्षा का प्रबन्ध था, इसका भी अनुभव हनुमानजी ने आगे चलकर कहा। उन्होंने लंका को ऊपर से खड़े होकर देखा और उन्होंने सोचा कि अभी और भी गहराई से लंका को भीतर पैठकर देखेंगे। पहली बार जब उन्होंने लंका को पर्वत शिखर से देखा था और उस समय सूर्य का प्रकाश था। अब उन्होंने निर्णय किया कि रात्रि में भी लंका को देखूँगा और भीतर पैठ कर देखूँगा। हनुमानजी रात्रि के समय अत्यन्त छोटे बनकर लंका नगर में पैठे –

अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पइसार ।। ५/३

सबसे पहले उनके सामने रावण की सुरक्षा व्यवस्था की विलक्षणता उनके सामने आई। हनुमानजी ने अपना अत्यन्त छोटा – मच्छर के समान छोटा रूप बना लिया –

मसक समान रूप कपि धरी ।
लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ।। ५/३/१

लेकिन रावण की सुरक्षा व्यवस्था ऐसी थी कि हनुमानजी मच्छर के रूप में भी प्रविष्ट नहीं हो पाए और लंकिनी ने उन्हें भीतर प्रविष्ट होने से रोकने की चेष्टा की –

नाम लंकिनी एक निसिचरी ।।
सो कह चलेसि मोहि निंदरी ।। ५/३/२

कभी-कभी किसी के राज्य की निन्दा करनी हो, तो उसे रावण-राज्य कह दिया जाता है, पर यहाँ रावण के राज्य का जो वर्णन है, उससे तो ऐसा लगता है कि वह एक पूर्ण विकसित राष्ट्र का सर्वोत्कृष्ट चित्र है। तो फिर रावण-राज्य क्यों नहीं? रामराज्य ही क्यों होना चाहिये? इस सन्दर्भ में एक महत्त्व की बात यह है कि राजतंत्र व्यक्ति से जुड़ा हुआ है। जब रावण-राज्य कहते हैं, तो लगता है कि रावण एक बुरा व्यक्ति था और रावण-राज्य अर्थात् एक बुरे व्यक्ति का राज्य। और जब रामराज्य कहते हैं, तो लगता है कि राम एक सर्वश्रेष्ठ चरित्र वाले राजकुमार थे और वे सिंहासन पर बैठे, तो वह रामराज्य है। पर यह धारणा यथार्थ नहीं है।

राजतंत्र कि स्थापना ही क्यों हुई? लोगों को अनुभव हुआ कि जिस व्यक्ति में सामर्थ्य है, योग्यता है, उससे हमें सुव्यवस्था और सुरक्षा मिलेगी। इसलिए किसी राजवंश के लोगों को उन्होंने राजा के रूप में उसे स्वीकार किया। परन्तु राजा यदि व्यक्ति होगा, तब एक समस्या प्राचीन काल से आती रही है, बार-बार आयेगी कि व्यक्ति आज जैसा प्रतीत होता है, क्या आवश्यक है कि उस व्यक्ति का चरित्र भविष्य में भी वैसा ही बना रहेगा? कई बार व्यक्ति बड़ा श्रेष्ठ दिखाई देता है, पर वह सत्ता पाकर बदल जाता है। उसके आचरण और विचार में परिवर्तन आ जाता है। बल्कि 'मानस' में तो विश्व-इतिहास को दृष्टि में रखकर यहाँ तक कह दिया गया कि दुनिया में शायद ही ऐसा कोई व्यक्ति उत्पन्न हुआ हो, प्रभुता पाकर जिसके मन में मद उत्पन्न नहीं हो गया हो –

नहिं कोउ अस जनमा जग माहीं ।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ।। १/५९/८

विश्व के इतिहास में अनेक राजाओं के चरित्र से आपको इस सत्य का परिचय मिलेगा। लक्ष्मणजी ने तो भरतजी के सन्दर्भ में भी इस इतिहास का स्मरण किया। जब प्रभु को सूचना मिली कि भरत आ रहे हैं और सूचना देनेवाले ने कहा कि चतुरंगिनी सेना के साथ आ रहे हैं –

एक आइ अस कहा बहोरी ।
सेन संग चतुरंग न थोरी ।। २/२२६/२

सुनकर प्रभु संकोच में पड़ गये। उन्हें चिन्ता हो गई। पर उनकी चिन्ता का हेतु दूसरा था। प्रभु भरतजी की भावनाओं, उनके शील और स्वभाव से परिचित हैं। वे समझ गये कि भरत मेरे राज्याभिषेक की योजना बनाकर चित्रकूट आ रहे हैं, इसीलिए चतुंरगिनी सेना को लेकर आ रहे हैं। प्रभु के अन्त:करण में द्वन्द्व हुआ। प्रभु ने सोचा – आज तक भरत ने मुझसे कुछ करने के लिये नहीं कहा। मैंने जो कहा, वही भरत ने किया। आज पहली बार भरत मुझसे आग्रह करने आ रहे हैं। क्या मेरे लिए यह उचित होगा कि भरत की माँग को अस्वीकार कर दूँ? और यदि मैं भरत की माँग को स्वीकार करके सिंहासन पर बैठ जाता हूँ, तो पिता की आज्ञा-पालन के लिए मैंने जो वनवासी का व्रत लिया है, वह व्रत अधूरा रह जायगा। यही अन्तर्द्वन्द प्रभु के हृदय में चल रहा था –

इत पितु बच इत बंधु सकोचू।।
भरत सुभाउ समुझि मन माहीं ।
प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं ।। २/२२७/३-४

लक्ष्मणजी प्रभु के बड़े उतावले प्रेमी हैं। बड़े स्नेहशील हैं और उनका आवेश भी स्नेहजन्य है। वह आवेश वस्तुत: किसी अहंकार की भावना से प्रेरित नहीं है, उसके पीछे स्नेह है, ममता है। श्रीराम से वे इतना स्नेह करते हैं, श्रीराम के प्रति उनके मन में इतनी ममता है कि उनको जब यह दिखाई पड़ा कि श्रीराम के मुख पर चिन्ता के चिह्न हैं, तो उन्होंने सोचा – भरतजी ससैन्य आ रहे हैं और सेना का उद्देश्य तो युद्ध है। कोई सेना लेकर जा रहा है, तो यही तो लगता है कि वह युद्ध करने जा रहा है। भरत सेना लेकर आ रहे हैं, तो इसका अर्थ तो यही है कि वे युद्ध करने आ रहे हैं। और प्रभु के मुख पर जो चिन्ता दिखाई दे रही है, उसका अर्थ है कि प्रभु सोच रहे हैं कि क्या अब छोटे भाई के विरुद्ध युद्ध करना होगा ! मैं युद्ध कैसे करूँगा? अपने शील के कारण युद्ध की कल्पना करके मन में दुखी हो रहे हैं। यह सोचकर लक्ष्मणजी उत्तेजित हो जाते हैं और प्रभु को एक लम्बा भाषण सुना देते हैं। उन्होंने कहा – यह सुनकर मुझे बड़ा दुख हुआ कि भरत जैसा व्यक्ति भी इतना बदल सकता है –

भरतु नीति रत साधु सुजाना ।
प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना ।। २/२२८/२

इसके बाद लक्ष्मणजी की दृष्टि एक शब्द में प्रगट हुई। वे भरतजी के बारे में कह सकते थे कि 'राजपद' पाकर, पर उसकी जगह कहा – राम के पद पर अधिकार कर लिया –

तेऊ आजु राम पदु पाई ।
चले धरम मरजाद मेटाई ।। २/२२८/३

इतना धार्मिक तथा सच्चरित्र व्यक्ति ने भी राज्य पाते ही ईश्वर के स्थान पर अहं को स्थापित कर लिया और इतना बड़ा अनर्थ करने के लिये प्रस्तुत हो गया। इससे बढ़कर दु:ख की बात क्या होगी? पर लक्ष्मणजी ने कहा कि यह भी मेरी भावुकता ही है, क्योंकि यह कोई नई घटना नहीं है। इससे पहले भी ऐसा ही होता रहा है। उन्हें विश्व-इतिहास के ऐसे महत्त्वपूर्ण पात्रों का स्मरण होने लगा। बोले – सहस्त्रबाहु, इंद्र और त्रिशंकु आदि किसको राजमद ने कलंक नहीं दिया? चन्द्रमा गुरुपत्नी गामी हुआ, राजा नहुष ब्राह्मणों की पालकी पर चढ़ा और राजा वेन के समान नीच तो कोई नहीं होगा, जो लोक और वेद दोनों से विमुख हो गया –

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू ।
केहि न राजमद दीन्ह कलंकू ।। २/२२९/१
ससि गुर तिय गामी नघुषु चढ़ेऊ भूमिसुर जान ।
लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान ।। २/२२८

यह कहकर उन्होंने निर्णय किया कि भरत को दण्ड दिया जाना चाहिए। बाद में देवताओं का संकेत पाकर लक्ष्मण संकुचित हुए कि मैंने बिना-सोचे-समझे भरत पर सन्देह किया, लेकिन लक्ष्मणजी के संकोच को देखकर भगवान राम ने यह नहीं कहा कि तुमने बड़ी अनुचित बात कही। वे बोले – "लक्ष्मण, तुम्हें संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुमने यदि भरत का विरोध किया तो कोई व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं किया। तुमने मेरे प्रति स्नेह के कारण किया। तुमने भरत का विरोध करते हुए जो बातें कहीं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से सचमुच बिल्कुल यथार्थ ही तो है।" गोस्वामीजी ने लिखा – लक्ष्मणजी संकुचित हो गये पर भगवान राम और सीताजी ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया –

सुनि सुर बचन लखन सकुचाने ।
राम सीयँ सादर सनमाने ।। २/२३१/५

प्रभु ने पहला वाक्य यही कहा – तुमने वस्तुत: बहुत बड़ा सत्य कहा है और विश्व में सबसे बड़ा अभिशाप तो यही है कि राजमद से बढ़कर अन्य कोई मद नहीं है –

कही तात तुम्ह नीति सुहाई ।
सब तें कठिन राजमदु भाई ।। २/२३१/६

भगवान राम का सांकेतिक अभिप्राय क्या है? साहित्य में शब्दों के अर्थ बड़े सांकेतिक होते हैं। 'पद' और 'मद' शब्दों को यदि आप लिखकर देखें, तो पायेंगे कि 'प' और 'म' की बनावट बहुत-कुछ एक जैसी है और 'प' को 'म' बनाना बड़ा सरल है। बस, जरा-सा 'प' के कोने में एक मोड़ दे दीजिए तो वह 'म' बन जायेगा। दोनों अक्षर एक ही वर्ग के है और प को जरा-सी घुँडी लग गई, तो म बन गया। इसका अभिप्राय यह है कि **'पद' में जहाँ अंहकार की घुण्डी लगी तो वह 'मद' हुए बिना नहीं रहेगा**। श्रीराघवेन्द्र का तात्पर्य था – कठिनाई यह है कि चाहे राजतंत्र की पद्धति स्वीकार करें या जनतंत्र की – पर जब समाज चुनेगा, तो व्यक्ति को ही तो चुनेगा! और व्यक्ति तो बदल सकता है, परिवर्तित होता रहता है। इसके बाद उन्होंने भरतजी का समर्थन किया, लक्ष्मणजी की धारणा का खण्डन किया, लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि तुम्हारी धारणा अपने स्थान पर सही है, पर यह भरत के विषय में सही नहीं है।

भगवान श्रीराघवेन्द्र का अभिप्राय यह था कि शासन को व्यक्ति ही तो चलावेगा। तंत्र चाहे कोई भी हो, पर प्रमुख तो व्यक्ति ही होगा। और व्यक्ति के साथ समस्या जुड़ी हुई है कि वह परिवर्तित होता है। राजतंत्र से असन्तोष हुआ व्यक्ति के बदलाव को देखकर लोगों के मस्तिष्क में जनतंत्र की बात आई। व्यक्ति के स्थान पर समूह को अधिकार दिया गया। पर समूह भी तो व्यक्तियों से ही बना हुआ होगा, समूह भी तो किसी दल का होगा और उसका नेतृत्व व्यक्ति के द्वारा ही होगा। ऐसी स्थिति में क्या व्यक्ति में परिवर्तन नहीं होगा?

तो क्या करें? व्यक्ति की बाध्यता है कि वह किसी-न-किसी पर तो निर्भर रहेगा ही। भगवान श्रीराघवेन्द्र ने एक सूत्र दिया। उनकी दृष्टि भरत की ओर थी। वे बोले – ठीक है, व्यक्ति के बिना काम नहीं चल सकता। पर भरतजी भी एक व्यक्ति हैं और जब किसी व्यक्ति में भरतजी का मनोभाव आ जाता है, तो उसके जीवन में मद आने की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। भगवान राम ने लक्ष्मण का समर्थन भी किया और बड़े उत्कृष्ट शब्दों में यह भी कहा – तुमने ठीक कहा कि पद से मद उत्पन्न होता है, पर मैं तो कहूँगा – (अयोध्या की तो बात ही क्या) ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पद पाकर भी भरत को राजमद नहीं होगा! क्या कभी काँजी की बूँदों से क्षीरसमुद्र फट सकता है? चाहे अन्धकार दोपहर के सूर्य को निगल जाए, आकाश बादलों में लुप्त हो जाए, गो के खुर समान जल में अगस्त्यजी डूब जाएँ, पृथ्वी अपनी क्षमाशीलता छोड़ दे और चाहे मच्छर की फूँक से सुमेरु पर्वत उड़ जाए, परन्तु भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता!

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ ।।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ।। २/२३१
तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई ।
गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई ।।
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी ।
सहज छमा बरु छाड़ै छोनी ।।
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई ।
होइ न नृपमदु भरतहि भाई ।। २/२३२/१-३

भगवान ने इन शब्दों में भरतजी की स्तुति की। भगवान राम का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति यदि व्यक्ति के रूप में शासन चलावेगा, तो उसमें बदलाव आना अवश्यम्भावी है।

रामायण में इसका संकेत है। रावण कौन था? उसका पूर्वजन्म भी रामायण में बताया गया है और यह बड़े महत्त्व की बात है। रावण पूर्वजन्म में प्रतापभानु था। इस नाम पर ध्यान दीजिए। प्रतापभानु माने जिसका प्रताप सूर्य के समान हो; और रावण निशाचर है, जिसकी शक्ति अन्धकार में ही बढ़ती है। इसमें व्यंग्य क्या है? जिसका प्रताप सूर्य के समान था, वह प्रकाश के स्थान पर अन्धकार का प्रतीक बन गया। उसके बाद और भी बड़े महत्त्व की बात कही गई है। प्रतापभानु का राज्य कैसा था? रावण का राज्य भी व्यवस्था की दृष्टि से बड़ा उत्कृष्ट राज्य है और पूर्वजन्म में जब वह

प्रतापभानु था, तो भी उसके राज्य का वर्णन हुआ है – राजा प्रतापभानु का बल पाकर भूमि सुन्दर कामधेनु जैसी सुहावनी हो गई। उनके राज्य में प्रजा सभी तरह के दु:खों से रहित और सुखी थी और स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा थे –

भूप प्रतापभानु बल पाई।
कामधेनु भै भूमि सुहाई।।
सब दुख बरजित प्रजा सुखारी।
धमरसील सुंदर नर नारी।। १/१५५/१-२

यह है प्रतापभानु के राज्य का वर्णन। दु:ख का अभाव है, सारी प्रजा सुखी है और पृथ्वी कामधेनु की तरह आचरण कर रही है। रामराज्य के सन्दर्भ में इसका एक महत्त्वपूर्ण सूत्र यह है कि व्यक्ति को बदलते देर नहीं लगती। प्रतापभानु निशाचर बन सकता है और यह हमारे भी जीवन का सत्य है। यह नहीं कि रावण अच्छे से बुरा हो गया। हम अपनी ओर झाँककर देखें, तो बोध होगा कि प्रतापभानु के जीवन में घटित हुआ ही बहुत बार हमारे जीवन का सत्य भी यह है और वही इतिहास हमारे जीवन में दुहराया जाता है। रामायण में बहुत ही गम्भीर प्रतिकात्मक संकेत हैं। गोस्वामीजी ने प्रतापभानु के राज्य का वर्णन किया है। वह सत्यकेतु का पुत्र था। उसका नाम प्रतापभानु और उसके छोटे-भाई का नाम अरिमर्दन था। सत्यकेतु राजा ने अपने जेष्ठपुत्र को राज्य दिया और वन में तपस्या करने के लिए चले गये। प्रतापभानु ने राष्ट्र को और भी व्यस्थित बनाया और सारे संसार पर उसने विजय प्राप्त की। यहाँ भी वही सूत्र है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतापभानु अच्छा है, धर्मात्मा है, पर उसके भी अन्त:करण में दूसरों को जीतने की महत्त्वकांक्षा विद्यमान है। यहीं से अन्तर दिखाई दिया। आगे चलकर जो घटनाएँ घटित हुई, उसका मूल सूत्र यह है कि अच्छे व्यक्ति के मन में भी जब दूसरों को पराजित करने की इच्छा हो, चाहे वह धर्म के नाम पर ही हो, तो उसका परिणाम भयंकर होता है। प्रतापभानु ने अनुभव किया कि राजा का कर्तव्य है वह सारे देशों को जीत कर चक्रवर्ती सम्राट् बने। उसने चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिए चारों ओर आक्रमण किया। पहला सूत्र – उसके सामने हर राजा झुक गया, पर एक व्यक्ति ऐसा भी था, जिसको यह असह्य था। जब तक जीत-हार का यह क्रम चलेगा, तब तक यह समस्या आती रहेगी। **जो जीतेगा, उसको मद होगा; जो हारेगा, उसको ईर्ष्या होगी।** यह टकराहट नये-नये रूप में समाज में प्रगट होती रहती है।

रामराज्य का चित्र देखने के लिये सरयू के तट पर चलते हैं, जहाँ भगवान राम और भरतजी गेंद खेलने के लिए एकत्र हुए और इस खेल में भगवान श्रीराम ने भरत को जिताने की चेष्टा की, इससे मूल अन्तर स्पष्ट हो गया। जब एक व्यक्ति दूसरे को हराना चाहेगा, तो दूसरा व्यक्ति भी उसे हराने की चेष्टा करेगा, ऐसी स्थिति में आप कैसे कल्पना कर सकते हैं कि टकराहट और संघर्ष नहीं होगा।

आगे चलकर रामराज्य के गुणों में दिखाई देनेवाला दूसरा सूत्र यह है कि इसमें हारने के स्थान पर छोटे को जिताने की चेष्टा की जा रही है। बड़ा छोटे को हरा दे, इसके स्थान पर बड़े के अन्त:करण में छोटे के विजय की अभिलाषा हो। समाज में यदि परिवर्तन लाना है, तो बाल्यावस्था से ही ऐसा किया जाना चाहिए। बाल्यावस्था से लाने का अभिप्राय यह है कि प्रतियोगिता को यदि स्वास्थ्य के सन्दर्भ में रखा जाय। खेल स्वास्थ्य के लिए संगठन के लिए उपयोगी है। यह वृत्ति मन में भरकर यदि खेल होगा, तो खेल में स्वास्थ्य बनेगा, सद्भाव भी बना रहेगा; पर यदि खेल का उद्देश्य केवल जीतना मात्र होगा, तो आज सारे विश्व में यह समस्या फैली हुई है – व्यक्ति के मन में मुख्य वृत्ति जीतने की है। उसे लड़कपन में सिखाया गया कि खेल में जीतना ही है, तब तो वह खेल में ही क्यों, सारे जीवन के हर क्षेत्र में यही वृत्ति रहेगी। बड़े होकर भी वही वृत्ति रहेगी। चाहे जैसे भी, जिस भी प्रकार से दूसरे को हरा देना, जीत लेना, सफल हो जाना – यही सबसे बड़ा लक्ष्य है।

परन्तु रामराज्य की मूल धारणा इससे भिन्न है। श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और अयोध्या के नागरिकों का स्वास्थ्य बड़ा सुन्दर है। श्रीराम खेलते हैं।

सरजु तीर सम सुखद भूमि-थल
गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये।। गीता. ४५/१

लोगों को लगता है कि प्रतियोगिता में उन्नति होती है; जरूर होती है, स्पर्धा में उन्नति होती है। पर उस उन्नति में ईर्ष्या का विष भी मिला रहता है। इस विष को मिटाने का क्या उपाय है? इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि जब श्रीराम खेलते हैं तो – लोगों ने नारा लगाया कि राम हार गये और भरत जीत गये –

एक कहत भइ हार रामजू की
एक कहत भइया भरत जये।। ४५/४

यहाँ हारने और जीतने वाले का दृश्य बड़ा अनोखा है। आज भी एक दल हारता है और दूसरा दल जीतता है। जो जीतता है, वह सीना तानकर सिर ऊँचा करके चलता है; और जो हारता है, वह कुछ लज्जा में सिर झुका लेता है, उसकी आँखें झुक-सी जाती हैं। पर यहाँ दृश्य उल्टा है। जो जीत गया है, वह तो संकोच के मारे नीचे देख रहा है। श्रीभरत ने जीतने के बाद दृष्टि नीचे कर ली और हारे हुए श्रीराम की क्या प्रतिक्रिया हुई? वे हर्षित होकर भरत की जीत के उपलक्ष्य में दान दे रहे हैं।

यह सुनि हरषित भए रामजू
बिप्रन बहु बिधि दान दए।।

किसकी जीत के उपलक्ष्य में दान दे रहे हैं? बोले – मेरे छोटे भाई की जीत हुई है। **जहाँ परायापन होता है, वहीं तो दुःख की अनुभूति होती है।** भगवान राम कहते हैं – भरत मेरा छोटा भाई है, मेरा प्रिय है। जैसे एक पुत्र यदि अपने पिता से आगे निकल जाय, पिता ने जितनी शिक्षा प्राप्त की है, पुत्र उससे अधिक शिक्षा प्राप्त करे ले, तो क्या पिता सिर पीटता है कि यह तो मुझसे आगे निकल गया? वह तो बड़ा प्रसन्न होता है। वही वृत्ति यहाँ भी हो सकती है।

दूसरी ओर किसी ने भरतजी से पूछ दिया कि जीतने के बाद तो व्यक्ति गर्व से तन जाता है, पर आप तो बड़े संकोच में गड़े हुए लग रहे हैं; आप इतने झुके हुए क्यों हैं? भरतजी ने मुस्कुरा कर कहा – भाई, मैं जीता थोड़े ही हूँ, मैं तो जिताया गया हूँ। इसमें बड़ा अन्तर है। जो समझता है कि मैं जीता हूँ, उसे अभिमान होता है और जब मैं देखता हूँ कि मैं जिताया गया हूँ, जिताने वाले के प्रति श्रद्धा का उदय होता है। मुझे तो विजय प्रभु ने दी है। उनकी कृपा और उनके स्नेह से यह विजय उन्होंने मुझे उपहार में दी है।

रामराज्य की स्थापना वस्तुतः इसलिये बहुत कठिन है कि इसके लिये पूरी वैचारिक क्रान्ति, भावानात्मक क्रान्ति और क्रियात्मक क्रान्ति होनी चाहिए। हमारे चिन्तन की पद्धति में बदलाव आना चाहिए। प्रतापभानु की समस्या क्या है? स्वयं श्रेष्ठ होते हुए भी उसमें दूसरों को हराने की वृत्ति है। जब हम 'श्रीराघेवन्द्र की जय', 'भगवान श्रीराम की जय' कहते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि किसी एक की ही जय हो और किसी अन्य की पराजय हो। 'राम की जय' माने राम को जब हम व्यक्ति नहीं – साक्षात् ब्रह्म कहते हैं, जब राम को सर्वव्यापक कहते हैं, जब राम को हम प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बैठा हुआ कहते हैं, तो 'राम की जय' अन्य जयों से भिन्न है। राम की जय माने हम सबकी विजय। किसी की हार नहीं, किसी की पराजय नहीं, जहाँ सबकी जय हो।

'सब' शब्द रामराज्य का महानतम सूत्र है। राम-चरित-मानस जनतंत्र की धारणा से भी आगे है। व्यावहारिक अर्थों में रामराज्य राजतंत्र था, क्योंकि राजकुल का व्यक्ति सिंहासन पर बैठता था, पर राजतंत्र से घबराकर व्यक्ति ने जनतंत्र को चुना। पर जनतंत्र में भी तो बहुमत और अल्पमत को लेकर ही व्यवस्था चलेगी। जनतंत्र में भी जिसका बहुमत होगा, वही शासन करेगा और अल्पमत उस शासन को स्वीकार करने के लिये बाध्य होगा और चेष्टा करेगा कि भविष्य में हम अपनी संख्या बढ़ाकर बहुमत में आ जायँ।

'रामराज्य' क्या है? यह व्यक्ति का राज्य है या बहुमत का। इसके लिए गोस्वामीजी ने बड़े महत्त्व का शब्द लिखा। यही रामायण का सूत्र है और वह शब्द है – 'सब'। अल्पमत या बहुमत नहीं, छोटा या बड़ा नहीं, व्यक्ति नहीं, जाति नहीं, राष्ट्र नहीं। इस 'सब' शब्द को गोस्वामीजी ने बार-बार दुहराया। मुख्य सूत्र यही है और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि भगवान राम के सिंहासनासीन होने के पक्ष में अयोध्या के अगणित नर-नारी थे। सभी चाहते थे कि श्रीराम सिंहासन पर बैठें। वे सिंहासन पर बैठते और प्रजा उनका स्वागत करती। रामराज्य के विरोध में तो केवल दो ही व्यक्ति थे न! एक मन्थरा और एक कैकेयी। करोड़ों व्यक्तियों में दो का क्या महत्त्व है, पर भगवान श्रीराम की धारणा बड़ी विलक्षण है। राम यह नहीं गिनते कि कितने लोग मुझे राजा देखना चाहते हैं, श्रीराम की दृष्टि इस बात पर जाती है कि यदि दो लोग नहीं चाहते, तो क्यों नहीं चाहते? दो व्यक्ति भी इतने महत्त्वपूर्ण हैं, यदि दो व्यक्ति भी मेरा विरोध करते हैं, तो ऐसी स्थिति में हमें देखना चाहिए कि उनके मन में हमें लेकर क्या आशंका है, जिसके कारण वे मेरा विरोध कर रहे हैं? व्यंग्य में कहें, तो यदि वह चुनाव का युग होता, तो मन्थरा-कैकेयी की जमानत ही जप्त हो जाती। दो ही तो वोट थे। रामराज्य तत्काल बन जाता। पर केवल दो के विरोध के कारण रामराज्य नहीं बना। समाज में यदि दो व्यक्ति भी विरोधी हैं, तो रामराज्य नहीं बनेगा। यह बड़े महत्त्व का सूत्र है। इसलिए 'राम की जय' किसी व्यक्ति का जय नहीं। जैसे आज 'जय रामजी की' कहकर अभिवादन करते हैं, वैसे ही प्राचीन काल में भी अभिवादन की एक परम्परा थी, रामायण में लिखा है कि उन दिनों जब लोग मिलते थे तो 'जय जीव' कहकर सिर नवाते थे –

कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए ।। १/३३२/८

'जय जीव' बड़ी अच्छी बात है। किसकी जय? किसी व्यक्ति की नहीं, किसी दल की नहीं – 'जीव की जय हो'। इसको अब और गहराई से देखिए, तो 'राम की जय' माने 'ईश्वर की जय'। ईश्वर की जय का अर्थ है – 'सारे जीवों की जय।'

❖ (क्रमशः) ❖
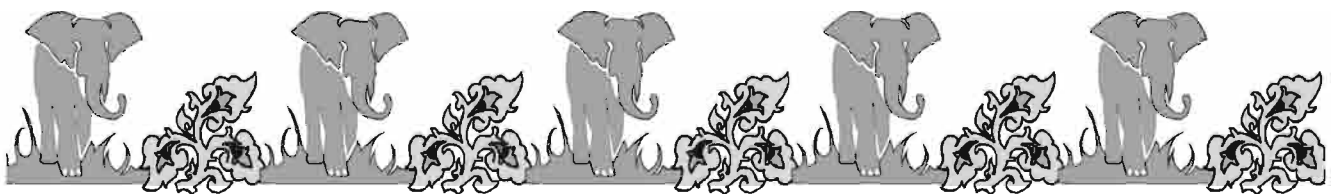
वृन्दावन में साधुसंग

लीलावती सरकार

उस बार गर्मी की छुट्टियों में मैं अपने पतिदेव डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार के साथ वृन्दावन गयी और जाकर सर्वप्रथम सन्तदास बाबाजी का दर्शन किया। उनका पूर्वाश्रम सिलहट में था। पहले वे हाइकोर्ट के प्रसिद्ध वकील ताराकिशोर रायचौधरी नाम से परिचित थे। मेरे पिता श्री यदुनाथ मजूमदार के वे घनिष्ठ मित्र थे। हमें देखकर बाबाजी बड़े आनन्दित हुए। पूर्वाश्रम में उन्होंने अपना बहुत-सा धन धर्मार्थ दान आदि कर दिया और पैदल ही चलकर व्रजधाम में आ पहुँचे थे। सन्तदास बाबाजी श्रीमत् काठिया बाबा के शिष्य थे।

आश्रम-प्रांगण में पहुँचकर हम लोगों ने देखा कि बाबाजी बर्तन माँज रहे हैं। वह दृश्य देखकर मेरा हृदय व्यथा से आकुल हो गया। मैं बिना कहे न रही सकी, "काका बाबू, यह क्या, संन्यास लेने के बाद अब आप बर्तन माँजने बैठे हैं?" उन्होंने उत्तर दिया, "हाँ बेटी, मैं बर्तन ही माँज रहा हूँ। दिन-रात मिलाकर २४ घण्टों का समय है – इस दीर्घ काल को कैसे बिताऊँ बेटी ! कुछ घण्टों से अधिक जप नहीं कर पाता, एक घण्टे से अधिक ध्यान नहीं कर पाता और दो घण्टे से अधिक अध्ययन नहीं कर सकता; अब बच गये १९ घण्टे। ये १९ घण्टे मैं कैसे बिताऊँ बेटी? इसीलिये ठाकुरजी के बर्तन माँजने का कार्य मैंने ले लिया है। तुम लोग बैठो। मैं बर्तन माँजकर आता हूँ और तुम लोगों को मन्दिर दिखाऊँगा। और हाँ, तो महेन्द्र, आज का प्रसाद तुम लोग यहीं पाओगे। जितने दिन भी व्रजधाम में हो, जब भी इच्छा हो, यहाँ आकर प्रसाद पा लेना।"

बर्तन माँजकर धोकर फिर व्यवस्थित होकर वे आये और हम लोगों को मन्दिर दिखाने ले गये। जाकर देखा – एक ओर मनोरम युगलमूर्ति है और दूसरी ओर श्रीमत् काठिया बाबा की मूर्ति है। वहाँ की साजसज्जा के बीच सबसे पहले हमारा ध्यान आकृष्ट किया – एक विशाल हुक्के ने, जिसके चिलम के अन्दर से बड़ी मात्रा में तम्बाकू जलने की गन्ध आ रही थी। मैंने पूछा, "ओह, लगता है आपके गुरुदेव बड़े तम्बाकू-प्रिय थे !" वे बोले, "हाँ बेटी, ऐसा ही था।"

अपने गुरुदेव के बारे में बोलते-बोलते सन्तदास बाबाजी भाव-विभोर हो गये। उन्होंने बताया, "सर्दी, गर्मी, वर्षा – छहों ऋतुओं में वे पत्तों की एक झोपड़ी के नीचे ही निवास करते थे। काठ की एक कौपीन के अतिरिक्त उनके शरीर पर अन्य कोई भी आवरण नहीं रहता था। जानती हो बेटी, एक बार क्या हुआ – उनकी कुटिया में एक चोर आ पहुँचा। उनकी कुटिया में भला था ही क्या ! तो भी चोरी करने के उद्देश्य से वह उनकी कुटिया में घुसा। उस समय वे बाहर थे। उन्हें कुटिया की ओर लौटते देखकर चोर तो सिर पर पाँव रखकर भागा। कुटिया के भीतर जो भी थोड़ा-बहुत कुछ मिला, उसी को लेकर वे भी चोर के पीछे-पीछे दौड़े। वे चोर को पुकारकर कहने लगे, "अरे भाई चोर-नारायण, क्यों मुझसे छल करके चले जा रहे हो? तुमने तो कुछ लिया ही नहीं, सब यहीं छोड़े जा रहे हो ! दया करके इन चीजों को ले जाओ। जो रोटी तुमने उठायी है, उसमें घी लगाना नहीं हुआ है। दया करके जरा ठहरो, तो उसमें घी लगा दूँ।

"मैंने उनमें कोई भोग या विलास नहीं देखा, केवल यही तम्बाकू-विलास था।"

डॉक्टर सरकार ने पूछा, "अच्छा बाबाजी महाराज, क्या आप बता सकते हैं कि यहाँ कोई सचमुच के भगवत्प्रेमी वैष्णव हैं या नहीं?" वे बोले, "दो तो मेरी जानकारी में हैं। वे गहन जंगल में निवास करते हैं। केवल एक बार संध्या के बाद गाँव में माधुकरी (भिक्षा) के लिये आते हैं। दोनों समय का भोजन लेकर वे फिर जंगल में ही लौट जाते हैं।"

"किस जंगल में और कहाँ वे निवास करते हैं, यह तो आप जानते ही होंगे?" – डॉक्टर सरकार के इस प्रश्न के उत्तर में वे बोले, "नहीं, परन्तु चरवाहों के जो बच्चे उधर गाय तथा भेंड़-बकरियाँ चराने या मोरों के पंख बिनने जाते हैं, वे लोग बता सकते हैं। सम्भव है कि उन लोगों ने कभी-कभी संध्या के बाद गाँव के पथ से जाते हुए देखा हो !"

डॉक्टर सरकार वृन्दावन के प्राय: सभी जंगली इलाकों में उन लोगों की खोज करने लगे। यह अभियान प्रतिदिन दोपहर में शुरू होता और धरती पर रात के अन्धकार की छाया फैल जाने पर खोज को स्थगित कर दिया जाता। इस प्रकार उन्होंने जावट, वंशीवट, गोकुल, नन्दग्राम, वृषभानुपुर, गोवर्धन, श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड आदि वृन्दावन के सभी नयनाभिराम वनों-उपवनों की खाक छानते रहे। कहीं पर वे देखते कि झुंड-के-झुंड मयूर-मयूरी विचरण कर रहे हैं, तो कहीं पर देखते कि हिरणों के झुंड क्रीड़ा में लगे हुए हैं। वृक्षों के ऊपर रंग-बिरंगे पक्षी मधुर कूजन तथा कोलाहल करते रहते थे। वनविहारी वंशीधारी श्रीकृष्ण को यह वृन्दावन इतना प्रिय क्यों था – वहाँ के ग्राम्य पथों में खड़े होकर ही इस बात की वास्तविक धारणा हो सकती है।

इसी प्रकार लगभग एक माह बीत गया। एक दिन भाग्य हम पर मुस्कुराया और उन वनवासी साधुओं में से एक का

हमें दर्शन मिला। उनका नाम था – रामकृष्ण दास बाबाजी। वे गौरवर्ण के सुन्दर सौम्य शरीरवाले थे। एक टाट का आवरण मात्र पहन रखा था। उनका चादर भी टाट से ही निर्मित था। उनके दाहिने हाथ में जपमाला थी और बाँयें में मिट्टी का एक पात्र। वे साधु तन्मय भाव से नाम-कीर्तन करते हुए चले जा रहे थे। चरवाहे बालकों ने हमें इशारा करते हुए कहा, "वह देखिये, साधु चले जा रहे हैं।"

हम लोग आगे बढ़े और सन्त के चलने के रास्ते को रोककर खड़े हो गये। हम लोग जब भी साधु की खोज में निकलते, तो साथ में कुछ फलमूल लेकर ही निकलते थे। उस दिन भी वैसा ही हुआ था। उन्हें फल देकर प्रणाम करके उठते ही, वे बोल उठे, "आप लोग ये फल क्यों लाये हैं?"

मैंने कहा, "आप ठाकुरजी को भोग देंगे, इसीलिये।"

वे बोले, "मुझे तो ठाकुरजी को भोग देने का अधिकार ही नहीं है।"

मैंने कहा, "क्यों नहीं है?"

वे बोले, "मेरा अपना स्वयं का तो कुछ भी नहीं है। सब कुछ उन्हीं का है। मैं भला उन्हें क्या दूँगा?"

मैंने कहा, "क्या कुछ भी नहीं है?"

वे बोले, "हाँ, है। केवल एक वस्तु है – वह है जीव का मन। उस मन को देने के लिये ही तो बचपन से ही इस जंगल में बैठकर प्रार्थना-निवेदन कर रहा हूँ, तो भी वे मेरे मन को ग्रहण नहीं कर रहे हैं। दोष शायद मेरा ही है। मेरा मन दोषों से परिपूर्ण है। शायद मैं अपने मन को ठीक-ठीक उनके चरणों में समर्पित नहीं कर पाता। ये फल आप लोग ले जाइये। संसार में भोजन की समस्या बड़ी प्रबल है। ये फल किसी भूखे प्राणी को देने से वह तृप्त हो जायेगा।"

इसके बाद उन्होंने लगभग एक घण्टे डॉक्टर सरकार के साथ वैष्णव-धर्म तथा श्रीकृष्ण-तत्त्व पर चर्चा की। वैष्णव-शास्त्रों में उनका अगाध पाण्डित्य था। बाद के दिनों में डॉक्टर सरकार कहा करते थे – इतना निरहंकारी विद्वान् मैंने दूसरा कोई नहीं देखा।

इस घटना के बाद, वृन्दावन में रहते समय, हमें और भी दो-तीन बार इन महापुरुष का दर्शन मिला था। एक दिन वे हमें अपनी कुटिया में ले गये थे। कुटिया के नाम पर वृक्ष के पत्तों से ढकी हुई एक झोपड़ी मात्र थी। टाट के जिस वस्त्र का वे पहनने-ओढ़ने के लिये उपयोग करते थे, उसी को बिछाकर सोते भी थे। आज की नव-सभ्यता की दृष्टि में यह दृश्य मूर्खतापूर्ण और बर्बरता प्रतीत होगी। परन्तु वे जिस लोक में विचरण करते थे, वहाँ किसी भी बाह्य वस्तु का मूल्य कौड़ी-भर भी न था।

डॉक्टर सरकार ने साधु से पूछा, "वृन्दावन में ये जो सारी दर्शनीय वस्तुएँ हैं, क्या उनमें से प्रत्येक में श्रीकृष्ण का स्पर्शन, दर्शन तथा अनुभूति विद्यमान है? यह क्या चिरकालीन सत्य है?"

वे बोले, "हाँ, सत्य है। जैसे तुम और मैं – अविकल सत्य हैं, वैसे ही ! परन्तु पूरे मन-प्राण और इन्द्रियों से इस बात पर विश्वास करना होगा।"

इन साधु के साथ बातचीत करके डॉक्टर सरकार खूब तृप्त हुए थे। परन्तु उनकी साधना वैष्णवमार्गी होने के कारण वे उनके साथ केवल शास्त्रों पर ही चर्चा करते थे, उनकी साधना-पद्धति जानने का कोई आग्रह नहीं दिखाया।

एक दिन हम लोग कृष्ण-प्रेमोन्मादिनी मीराबाई के साधना-स्थान का दर्शन करके लौट रहे थे। देखा – गोवर्धन पर्वत के नीचे एक व्यक्ति बैठा हुआ है। संध्या हुए काफी समय बीत चुका था। चराचर जगत् अन्धकार-सागर में डूब चुका था। वह व्यक्ति जिस जगह बैठा हुआ था, वहाँ भी अन्धकार फैला हुआ था। दूर से यह दृश्य देखते ही मैं डॉक्टर सरकार की ओर मुड़कर बोली, "आशा करती हूँ कि अब तुम्हारी साधुओं की खोज की पारी समाप्त ही होनेवाली है।"

डॉक्टर सरकार बोले, "क्यों, देख रही हो न, चुपचाप भला आदमी बनकर बैठा हुआ है। थोड़ा निकट जाकर देखो, तो क्षण भर में अपनी सच्ची मूर्ति धारण कर लेगा।"

मेरे मन में आया – सुना था कि गोवर्धन के इस पहाड़ी वनाकीर्ण मार्ग में जैसे वन्य जीव-जन्तु मिलते हैं, वैसे ही चोर-डकैतों से भी सामना हो जाता है। रात क्रमशः घनी होती जा रही थी। कई लोगों ने रात के समय इस मार्ग पर चलने से मना किया था। उनकी बातें याद हो आयीं। हम लोग दूसरा कोई मार्ग भी नहीं जानते थे; और फिर हम लोग इतने पास आ पहुँचे थे कि वह व्यक्ति निश्चय ही हमें देख चुका था। अतः दूसरा मार्ग ढूँढ़ने का कोई प्रश्न ही नहीं था। भय के कारण हमारे शरीर का खून मानो जमने लगा था। निर्जन में संकट को निश्चित रूप से आया जानकर ही हम दोनों घोंघे की चाल से अपने मार्ग पर चलते रहे। सीने धड़क रहे थे, कण्ठ सूख गये थे – केवल संकेत के द्वारा ही मेरे तथा डॉक्टर सरकार के बीच दो-एक बातें हो रही थीं।

क्रमशः हम उस व्यक्ति के निकट जा पहुँचे। तभी पूर्व के आकाश में कृष्ण-पंचमी का चन्द्रमा अपना अवगुण्ठन हटाकर प्रकट हुआ। उसी के प्रकाश में हमने देखा – उस व्यक्ति के शरीर पर एक टुकड़ा कौपीन मात्र था। उसकी बन्द आँखों से गंगा-जमुना की धारा बही जा रही थी। परन्तु मेरा अविश्वासी मन इस दृश्य को देखकर भी पूरी तौर से असन्दिग्ध नहीं हो सका। मेरे मन में आया – शैतानी करने के उद्देश्य से यह भी रचाया हुआ एक स्वांग है।

परन्तु डॉक्टर सरकार ही जानें कि उन्होंने इस व्यक्ति में ऐसा क्या पाया कि वे उस व्यक्ति के पाँवों के निकट जा बैठे। उनकी वाणी मौन थी, नेत्र मुँदे हुए थे। इसी प्रकार कितना समय बीत गया, याद नहीं, परन्तु मैंने आँखें खोलकर देखा – वह व्यक्ति अपलक नेत्रों से हमें देख रहा है। अब मेरे हृदय में थोड़े साहस का संचार हुआ। आँखों से आँखें मिलते ही मैंने पूछा, ''आप यहाँ क्यों बैठे हैं?''

उन्होंने उत्तर दिया, ''मैं यहाँ व्रजगोपी-वल्लभ यशोदा-नन्दन अपने सखा प्राणधन से मिलने आया हूँ।''

मैंने कहा, ''इस अँधेरी रात में, इस घने वन में उन्हें कहाँ पायेंगे?''

वे बोले, ''पाऊँगा, अवश्य पाऊँगा सजनी। इस गोवर्धन पर्वत में ही तो वह दिन-रात अपने सखाओं के साथ घूमता-खेलता रहता है।''

मैंने कहा, ''अच्छा, क्या कभी वे आपके साथ खेले हैं? आपने क्या कभी उन्हें देखा है?''

वे बोले, ''यदि वह मेरे साथ खेलेगा नहीं, तो फिर उसने मेरी सृष्टि ही क्यों की? वह सभी के साथ खेल रहा है, बेटी। खेलना ही तो उसका कार्य है। यदि कहो कि उसका दर्शन मिला है क्या? तो दर्शन उस दिन अवश्य मिलेगा, जिस दिन उसे देखने के योग्य शरीर-मन तैयार होगा। बेटी, यही तो सबसे बढ़कर आश्चर्य की बात है कि वह हममें से हर किसी के भीतर है, तो भी हम लोग उसे देख नहीं पाते। दूसरी ओर हमारा कुछ भी उसके लिये अज्ञात नहीं है। जीते या मरते एक बार उसका दर्शन अवश्य मिलेगा, इसी आशा में बैठा हुआ हूँ और बैठा रहूँगा।''

साधु को हमने कुछ धन देना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। हमारे बहुत अनुरोध करने के बाद वे बोले, ''यदि तुम लोगों की इतनी ही इच्छा है, तो अमुक व्यक्ति को एक रुपया दे देना। वह जाड़े के दिनों में मेरे लिये एक कम्बल खरीद देगा।''

आज ये बातें कथा के समान प्रतीत हो रही है, परन्तु मैं जिन दिनों की बात कह रही हूँ, उन दिनों एक रुपये में ठण्ड के दिनों के उपयुक्त अच्छा कम्बल मिल जाता था। ❑ ❑ ❑

भारत प्यारा देश महान्

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

भारत प्यारा देश महान्।
नाम इसी का हिन्दुस्तान।।

सारी धरती का शिरमौर,
ऐसा देश न कोई और,
ऋषियों-मुनियों की क्या बात,
यह देवों का भी है ठौर,

धरती पर यह स्वर्ग-समान।
भारत प्यारा देश महान्।।

मुकुट हिमालय सदाबहार,
गंगा-यमुना-जल गलहार,
कल-कल करती हैं गुण-गान
कृष्णा-गोदावरी उदार,

विंध्याचल मणियों की खान।
भारत प्यारा देश महान्।।

शरणागत को देता त्राण,
करता अरि का भी कल्याण,
महा-मानवों की यह भूमि,
यह है मानवता का प्राण,

इसकी संस्कृति पुण्य प्रधान।
भारत प्यारा देश महान्।।

पद धोता है सिन्धु अपार,
लहरें करती जय-जयकार,
ले सुमनों की सुखद सुगन्ध
पवन बाँटता सबको प्यार,

इसका कहीं नहीं उपमान।
भारत प्यारा देश महान्।।
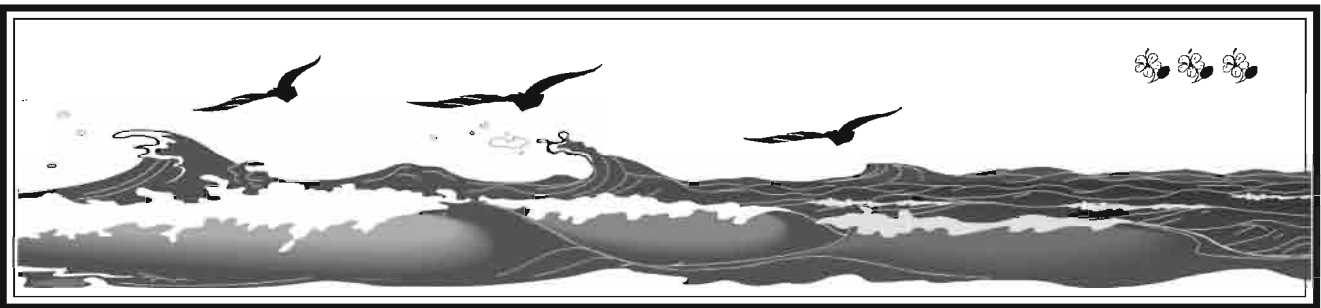
उत्तेजना से दुःख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मनुष्य का मन ऐसे साँचे में ढला है कि तनिक प्रतिकूलता से वह उत्तेजित हो उठता है। पर खास परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही उसकी मानसिक उत्तेजना का कारण नहीं बनती; वरन् काम, क्रोध और लोभ के मानसिक वेग भी उसे उत्तेजित कर देते हैं। उत्तेजना में मनुष्य अपना आपा खो बैठता है और उसका विवेक दब जाता है, फलस्वरूप उसमें की पशुता उमड़ आती है और वह ऐसी हरकतें कर बैठता है, जो कदापि मनुष्योचित नहीं कही जा सकतीं। फिर वह पशु के समान ही इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है। वह गुरुजनों तक का अपमान कर बैठता है और कभी-कभी तो उत्तेजित होकर हत्या का जघन्य दुष्कृत्य भी कर डालता है।

काम, क्रोध और लोभ के वेग उत्तेजना के सशक्त कारण होते हैं, यह हम कह चुके हैं। 'गीता' में एक श्लोक आता है –

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।

– अर्थात् "काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरक के दरवाजे हैं, ये आत्मा का नाश करने वाले हैं अर्थात् उसकी अधोगति के कारण होते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।"

फिर गीता में ही अन्यत्र काम और क्रोध को महापेटू और महापापी कहा है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

– अर्थात् "किससे प्रेरित होकर, न चाहता हुआ भी, मनुष्य बलपूर्वक लगाये हुए के समान, पाप का आचरण करता है?" और इसके उत्तर में श्रीकृष्ण काम और क्रोध को इसका कारण बतलाते हैं।

तात्पर्य यह कि उत्तेजना ही सब प्रकार के दुष्कर्मों और पापों की जड़ है। वह मनुष्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन को दुःखमय कर देती है। इसलिए मनुष्य को उत्तेजित होने से बचना चाहिए।

प्रश्न होता है कि वह कैसे बचे? इसका उत्तर है – उत्तेजना के कारणों को दूर करके। उत्तेजना का एक कारण तो स्नायविक दुर्बलता है, जिसे दवा ठीक कर सकती है। पर जब उत्तेजना के मूल में काम, क्रोध, लोभ का वेग हो, तो ऐसे समय उत्तेजना की स्थिति में कोई क्रिया नहीं करने की आदत डालना मनुष्य की रक्षा करना है। इसके लिए मन में सब समय यह विचार उठाते रहने का अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं उत्तेजना के क्षणों में कुछ नहीं करूँगा'। काम-क्रोध-लोभ के वेग आएँगे, पर यह अभ्यास ब्रेक का काम करेगा और उत्तेजना को मन के धरातल तक ही सीमित रख उसे शरीर के धरातल पर नहीं उतरने देगा। हमारा यह अभ्यास हमें अनुचित करने से बचा देगा। क्रोधादि वेग के समय मन विवेक से शून्य हो जाता है और मानो हम बरबस वह कर बैठते हैं, जो नहीं चाहते। पर उत्तेजना की स्थिति में कुछ भी नहीं करने का निश्चय यदि हम सब समय मन के धरातल पर उठाते रहें, तो यह अभ्यास हमारा रक्षक बनेगा। हो सकता है हम कुछ बार असफल हों, पर उससे हम हतोत्साहित न हों और वैचारिक अभ्यास का क्रम न तोड़ें। हमें सफलता मिलेगी ही।

❑❑❑

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, सड़क, धर्मशालाएँ – इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है।

– *श्रीरामकृष्ण*

अभिशप्त राजा परिक्षित

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' तथा 'काठियावाड़ की कथाएँ' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है। १९३७ ई. में उन्होंने महाभारत की कुछ कथाओं का बँगला में पुनर्लेखन किया था। जिसकी पाण्डुलिपि हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

राजा परिक्षित के पिता अभिमन्यु और माता उत्तरा थीं। कुरुकुल के परि-क्षीण होने पर जन्म लेने के कारण उनका नाम परिक्षित रखा गया था। परिक्षित मानो धर्म के मूर्तिमान स्वरूप, नीतिशास्त्र में निपुण और शासन-कार्य में अत्यन्त कुशल थे। उनके राज्य में जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शुद्र निवास करते थे, उन्हें वे उनके उपयुक्त जीवन-यापन करने को बाध्य करते थे। वे सबके प्रति समदृष्टि-सम्पन्न थे और राजा के कर्तव्य के रूप में दुष्टों का दमन तथा शिष्टों का पालन किया करते थे। उनका किसी के प्रति विद्वेष न था और किसी का भी उनके प्रति विद्वेष न था।

दीन-दुखी, अनाथ, विकलांग तथा विधवा आदि प्रजाओं का पालन और उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करना राजा का कर्तव्य है और वे इसे प्रीति एवं उत्तरदायित्व के साथ निभाया करते थे। उनके राज्य में किसी को भी अन्न-वस्त्र का अभाव न था, धन-धान्य का प्राचुर्य होने के कारण समस्त प्रजा सुखी और सन्तुष्ट रहा करती थी। राजकाज न्यायपूर्वक चलते रहने के कारण किसी के भी मन में अन्याय या पीड़ित होने की आशंका न थी। वे राजकार्य में ईमानदार थे और कभी न्याय तथा नीति का पथ त्यागकर प्रजा का उत्पीड़न नहीं करते थे। इसी प्रकार उन्होंने धर्मपूर्वक सुदीर्घ साठ वर्षों तक राज्य किया था।

राजा परिक्षित एक निपुण धनुर्धर थे और शिकार के लिये जाना उन्हें अत्यन्त प्रिय था। बीच-बीच में वे राज्यभार मंत्रियों के हाथों में सौंपकर शिकार करने हेतु घोर जंगल में चले जाते। जब वे अन्तिम बार शिकार के लिये गये, उस समय एक हिरण उनके वाणों से विद्ध होकर भाग गया। उस हिरण की खोज करते हुए वे बड़े थक गये और भूख-प्यास से आकुल हो उठे। इसी अवस्था में इधर-उधर भटकते हुए वे जंगल के बीच बैठे हुए एक वृद्ध पुरुष को देखकर उनके पास गये। ध्यान में डूबे हुए उन मुनि ने मौनव्रत धारण कर रखा था। राजा को उस समय हिरण को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं सूझ रहा था। उन्होंने मुनि से बारम्बार पूछा कि क्या उन्होंने किसी वाणविद्ध हिरण को देखा है?

बार-बार पूछने पर भी कोई उत्तर न पाकर वे बड़े नाराज हो उठे। वे भूख-प्यास से भी आकुल थे, इसलिये उनके मन में अत्यन्त क्रोध उत्पन्न हुआ। क्रोध के आवेग में उनका उचित-अनुचित का बोध चला गया। पास में ही एक मरा हुआ साँप पड़ा था। उन्होंने उसे अपने धनुष के छोर से उठाकर उन मुनि के गले में पहना दिया और चले गये। मुनि चुपचाप सब देखते रहे। उन्हें जरा भी क्रोध नहीं आया। गले में सर्प को धारण किये हुए वे पूर्ववत् ही शान्त बैठे रहे।

मुनि का नाम था – शमीक। उनका शृंगी नाम का एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र था। वे कठोर तपस्वी और इस कारण बड़े क्रोधी भी थे। जब वे तपस्या करके लौट रहे थे, तो अन्य ऋषिकुमारों ने उन्हें उनके पिता के अपमान की बात कही। सुनकर उनके भीतर क्रोध की अग्नि धधक उठी। उन्होंने पूछा, "सच सच कहो, क्या मेरे पिता ने कोई अपराध किया था, जिस कारण राजा परिक्षित ने उनके प्रति ऐसा आचरण किया?" वे लोग बोले, "उनका अपराध बस इतना ही था कि राजा परिक्षित द्वारा 'इधर कोई वाणबिद्ध हिरण भागकर आया है क्या' – यह बारम्बार पूछे जाने पर भी जब उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला, तो वे इस पर नाराज हो गये और वे उस मरे हुए साँप को मुनि के गले में डालकर अपनी राजधानी हस्तिनापुर की ओर लौट गये।"

सुनकर शृंगी का पारा आसमान तक जा चढ़ा और उन्होंने यह कहते हुए राजा को अभिशाप दिया – "राजा परिक्षित ने मेरे मौन-व्रतधारी वृद्ध पिता के गले में मरा हुआ साँप डाल कर, बिना किसी अपराध ही उन्हें अपमानित किया है, इसलिये आज से सात दिनों के भीतर ही विषधर तक्षक सर्प के डँसने से यमलोक चले जायेंगे।"

शमीक वह बात सुनकर बड़े दुखी हुए। वे अपना मौन भंग करके बोले, "शृंगी, तुमने राजा को शाप देकर बड़ा ही अनुचित कार्य किया है। तपस्वी के लिये ऐसा आचरण अशोभनीय तथा धर्मविरुद्ध है। धार्मिक न्यायपरायण से यदि कभी कोई भूल हो जाय, तो उनके उस अपराध की उपेक्षा कर देनी चाहिये, सहन कर लेना चाहिये। वे जब आये तो भूख-प्यास से कातर थे और ऐसा लगता है कि वे मेरे मौन-व्रत-धारण की बात को समझ नहीं सके, इसीलिये अपने प्रश्न का उत्तर न पाकर क्रोध के वशीभूत होकर एक दोषपूर्ण आचरण कर बैठे हैं। इसके लिये उन्हें इतना भयंकर शाप देना अत्यन्त अनुचित हुआ है!"

शृंगी बोले, "पिताजी, सब सत्य है, परन्तु मैंने जो कुछ कह दिया है, वह अब असत्य तो नहीं हो सकता। मैं जीवन में कभी झूठ नहीं बोला हूँ, इसलिये मेरा दिया हुआ शाप झूठा नहीं हो सकता। भूल की सजा भोगनी पड़ती है – राजा होने के बावजूद उन्हें यह भोगना पड़ेगा।"

शमीक – "शृंगी, मैं जानता हूँ कि तुमने कभी हास्य-विनोद में भी झूठ नहीं बोला। परन्तु तपस्वी का ऐसा क्रोधी स्वभाव होना ठीक नहीं है। यद्यपि जो लोग कठोर तपस्या करते हैं, उनके क्रोध में प्राय: वृद्धि हो जाती है, तथापि आज से तुम शान्ति गुण का अवलम्बन करके नियमित आहार आदि करते हुए क्रमश: क्रोध को दूर करो। तभी तुम्हारे धर्म का क्षय नहीं होगा। इसलिये तुम 'शम' (इन्द्रिय-निग्रह) गुण से सम्पन्न बनो और क्षमाशील होओ, इससे तुम्हारा यह लोक तथा परलोक सार्थक होगा और अन्त में तुम परम पद को प्राप्त करोगे।"

इस प्रकार उपदेश देने के बाद शमीक मुनि ने राजा को शृंगी के शाप की सूचना देने के लिये अपने एक शिष्य को उनके पास भेजा। यह भयंकर समाचार पाकर राजा परिक्षित को बड़ा भय हुआ और अपने अनुचित कृत्य का स्मरण करके उनके मन में बड़ा पश्चात्ताप हुआ – विशेषकर यह जानकर कि शमीक मुनि ने मौनव्रत के कारण ही उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था और इतने अपमानित होने पर भी मुनि के मन में जरा भी क्रोध नहीं आया, बल्कि उन्होंने अपने पुत्र का भी, शाप देने के कारण बड़ा तिरस्कार किया है।

परिक्षित यह कहकर खेद करने लगे – "हाय, यह मैंने कैसा अनुचित कार्य कर डाला है – ऐसे शान्त-स्वभाव स्व-धर्मनिष्ठ मुनि का बिना कारण ही अपमान किया है!" और सन्देशवाहक से बोले, "महाशय, आप कृपया मुनिवर शमीक से कहियेगा कि वे मेरे प्रति प्रसन्न रहें। मैंने बिना सोचे-समझे ऐसी गलती कर दी है, इसके लिये वे मुझे क्षमा करें।"

इसके बाद राजा ने मंत्रियों की सभा बुलवाकर उन्हें सारी बातों से अवगत कराया। उन लोगों की सलाह के अनुसार वे किले में ही विशेष व्यवस्था करके वहीं निवास करने लगे। राजकार्य यथाविधि चलने लगा। मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी उनके पास जाने की अनुमति नहीं थी।

यह बात चारों ओर फैल गयी कि राजा परिक्षित शाप-ग्रस्त हो गये हैं और सात दिनों के भीतर उनकी तक्षक के डँसने से मृत्यु हो जायेगी। काश्यप मुनि नाम के एक ब्राह्मण सर्पदंश का बहुत अच्छा मंत्र तथा औषधियाँ जानते थे। इस अवसर पर कुछ धन तथा पुण्य कमाने की आशा में हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। तक्षक को यह बात ज्ञात हो गयी, अत: उसने एक ब्राह्मण का वेश धारण करके रास्ते में उनसे भेंट की।

– "हे ब्राह्मण, इतनी जल्दी-जल्दी कहाँ जा रहे हैं?"

काश्यप बोले, "महाशय, परिक्षित राजा से मिलने हस्तिनापुर जा रहा हूँ। सुना है उन्हें ऐसा अभिशाप मिला है कि सात दिनों बाद तक्षक नाग के काटने से उनके प्राण चले जायेंगे। मैं जो मंत्र तथा औषधियाँ जानता हूँ, मेरा विश्वास है कि मैं उनसे उनके प्राण बचा सकूँगा। इसी कारण तेजी से जा रहा हूँ, क्योंकि समय निकट आता जा रहा है।"

तक्षक ने कहा, "हे ब्राह्मण, वह आपकी सामर्थ्य के परे है, क्योंकि तक्षक के काटने पर कोई भी नहीं बचता।" इसके बाद वह अपना स्वरूप प्रकट करके बोला, "मैं ही तक्षक हूँ। मुझे जरा अपनी विद्या का परिचय दो तो देखूँ। मैं इस वृक्ष को डँसता हूँ, इसे बचा लो तो जानूँ!"

काश्यप – "हाँ, हाँ, डँसो और मेरी विद्या का प्रभाव देखो! मैं उसे बचा लूँगा।"

तक्षक द्वारा उस वृक्ष को डँसते ही वह बिल्कुल सूख गया और काश्यप ने थोड़ी ही देर में उसे अपने मंत्रबल से फिर जीवित कर दिया। यह देखकर तक्षक को चिन्ता हुई। वह बोला, "सचमुच ही आपके पास जो विद्या है, वह अद्भुत है। आप इच्छा करें, तो उन्हें अवश्य बचा सकते हैं। परन्तु राजा परिक्षित ब्रह्मशाप से मरने वाले हैं। उनकी आयु समाप्त हो चली है। वह शाप विफल नहीं हो सकता। इसलिये आपकी विद्या वहाँ निष्फल हो सकती है। ऐसा होने पर आपकी यश-कीर्ति नष्ट हो जायेगी। अत: आपके लिये ऐसा प्रयास न करना ही उचित है। आप तो केवल धन पाने की आशा में जा रहे हैं। उसे पाकर ही तो आपका उद्देश्य सिद्ध हो जायेगा। बोलिये, कितने की आशा लेकर जा रहे थे, मैं उसका ड्योढ़ा दूँगा।"

काश्यप बोले, "हाँ, मैं धन का ही आकांक्षी हूँ। तुम मुझे यदि यथेष्ट धन दो, तो मैं यहीं से लौट जाऊँगा।"

तब तक्षक ने उसे बहुत-सा धन प्रदान किया। काश्यप अपनी यात्रा को स्थगित करके घर लौट गये। धन का लोभ ऐसी चीज है कि विद्या रहते हुए भी वे राजा की प्राणरक्षा की चेष्टा किये बिना ही घर लौट गये। इसीलिये धन के लोभियों पर विश्वास नहीं करना चाहिये।

सात दिन हो जाने पर परिक्षित ने सोचा कि संकट कट चुका है, क्योंकि वे शुकदेव के मुख से भगवान विष्णु की लीला-कथाएँ सुन रहे थे। परन्तु जब वे फल खा रहे थे, तो उस फल में से ही निकलकर तक्षक ने उन्हें डंस लिया और उनकी तत्काल मृत्यु हो गयी।

वैसे अब उनमें मृत्यु का भय नहीं रह गया था, क्योंकि श्री भगवान की लीलाओं की कथाएँ सुनकर उनका चित्त अमृतमय हो चुका था।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी निरंजनानन्द

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

एक दिन दोपहर के समय तीन व्यक्ति, ब्राह्मसमाज के महान् नेता केशवचन्द्र सेन के परम श्रद्धेय परमहंस रामकृष्ण का दर्शन करने रानी रासमणि द्वारा निर्मित दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर जा पहुँचे। उनमें से दो प्रौढ़ आयु के थे और अपने साथ एक बीस वर्षीय युवक को साथ लाये थे। वह युवक सुन्दर तथा ऊँचे कद का और उसके केश घुँघराले थे। उसका राजकुमारों का-सा व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था; उसके नेत्रों में साहस और आनन्द की चमक थी। स्वभाव से शान्त होने के बावजूद वह एक असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न उत्साही युवक था। उसमें अतीन्द्रिय अनुभव की क्षमता थी और कलकत्ते के अहीरीटोला के डॉक्टर प्यारीचाँद मित्र की प्रेतविद् टोली के लोग अपनी प्लैनचेट की बैठकों में उसका उपयोग माध्यम के रूप में करते थे। प्रचण्ड साहस और बल से युक्त होने के कारण साहसिक कार्यों में कूद पड़नेवाले व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान बन गयी थी। साथ ही वह, गरीब और तिरस्कृत लोगों के प्रति अपनी दयालुता और धर्मनिष्ठा के कारण भी लोगों के बीच प्रसिद्ध हो चुका था। वह युवक और उसके साथी परमहंस को देखने आये थे, क्योंकि उन लोगों ने सुन रखा था कि उनमें बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। वे लोग शायद यह नहीं जानते थे कि परमहंस के पास एक ऐसी विशेष शक्ति थी, जिससे वे मनुष्य के भीतर भी देख लेते और उनके मानसिक गठन को जान लेते थे। इस युवक पर दृष्टि पड़ते ही परमहंस मन्द स्वर में कह उठे, "अहा, लड़का अच्छा है, निष्कपट है।"

उस टोली ने श्रीरामकृष्ण को अपने प्लैनचेट के लिए माध्यम बन जाने की प्रार्थना की। शिशुवत् सरल तथा अबोध श्रीरामकृष्ण तत्काल इसके लिए राजी हो गये और उन लोगों की इच्छानुसार एक कुर्सी पर बैठ गये। वे लोग उन पर सम्मोहन करने लगे, मगर पूरी कोशिश करने पर भी वे उन पर अपना प्रभाव नहीं जमा सके; श्रीरामकृष्ण पूरे समय शान्त भाव से बैठे रहे और कभी-कभी मुस्कुराकर उन लोगों की ओर देख लेते। ऐसा लगता है कि उन्हें उन लोगों के प्रयोग में कुछ गड़बड़ी का आभास हुआ, अत: कुछ देर बाद ही उन्होंने उन लोगों के साथ इस विषय में सहयोग करने से मना कर दिया। टोली का वरिष्ठ सदस्य हताश होकर बोल उठा, "निश्चय ही आप एक असाधारण मनोबल वाले व्यक्ति हैं। हम आपको सम्मोहित करने में असफल हुए हैं।"[१] दूसरी ओर परमहंस ने उस युवक में एक उन्नत साधक के लक्षण देखे, जबकि उसके साथी लोग इस विषय में अनजान थे। इसके अलावा वे यह भी जान गये कि यह युवक उनके उन चुने हुए अन्तरंग शिष्यों में से एक है, जो भविष्य में विश्व के आध्यात्मिक नव-जागरण हेतु उनके सन्देश का प्रचार करेंगे। परमहंस उस समय के महानतम आध्यात्मिक व्यक्ति थे और विभिन्न धर्म और सम्प्रदायों के नेता उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। जैसे चुम्बक लोहे को खींच लेता है, वैसे ही परमहंस अपने पास आनेवाले सभी लोगों को – चाहे वह बालक हो या वृद्ध, अज्ञानी हो या पण्डित – अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। यह युवक था नित्य-निरंजन घोष (बाद में स्वामी निरंजनानन्द), जिसे श्रीरामकृष्ण ने 'नित्यसिद्ध' कहा था। श्रीरामकृष्ण के मतानुसार ऐसे 'नित्यसिद्ध' लोग दूसरों की भलाई के लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं।

सम्भवत: १८६२[२] में २४-परगना जिले के राजारहाट-विष्णुपुर ग्राम में एक मध्यमवर्गीय कुलीन परिवार में विशेष रूढ़िवादी परिवेश में नित्यनिरंजन (सामान्यत: निरंजन के नाम से परिचित) का जन्म हुआ था। अम्बिकाचरण घोष उसके पिता और बारासात जिले के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् कालीकृष्ण मित्र मामा थे। उसके दूसरे मामा राजकृष्ण मित्र एक प्रसिद्ध होमियोपैथ थे।[३] निरंजन के बचपन के विषय में अधिक जानकारी नहीं है, परन्तु जैसा कि श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, श्रीरामचन्द्र की कुछ विशिष्टताओं के साथ जन्म लेने के कारण उसे बचपन में धनुष-बाण, तलवार आदि से खेलना अच्छा लगता था। अच्छी शिक्षा पाने के लिए उसे कलकत्ते के अहीरीटोले में अपने मामा कालीकृष्ण मित्र के यहाँ भेजा गया। उसे पढ़ाई में उतनी रुचि नहीं थी जितनी प्रेतविद्या में, जिसका उल्लेख प्रारम्भ में किया गया। प्रेतविदों की टोली में

---

१. 'तत्त्वमंजरी' (बँगला), वर्ष ८, अंक ४, पृष्ठ ९४

२. उनकी निश्चित जन्मतिथि ज्ञात नहीं है। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' (सं. १९९९, भाग २, पृ. १२५०) में लिखा है कि (अप्रैल १८८७ में) उनकी आयु लगभग पचीस वर्ष थी। उनकी जन्मतिथि श्रावण-पूर्णिमा को मानते हैं, परन्तु यह अभी तक सत्यापित नहीं हो सका है।

३. 'श्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला), बैकुण्ठनाथ सान्याल, वसुमती साहित्य मन्दिर, कलकत्ता, पृ. ३१२

एक संवेदनशील माध्यम के रूप में कार्य करनेवाले निरंजन पर प्रेत आ जाते और इससे उसमें एक ऐसी मानसिक शक्ति प्रकट हो जाती, जिससे वह लोगों का रोग दूर कर सकता था। इससे उसे एक लाभ तो यह हुआ कि जब एक धनी व्यक्ति उसके पास इलाज कराने के लिए आया, तो उसे देखकर निरंजन के मन में धन और सांसारिक सुखों के प्रति वितृष्णा का भाव जाग उठा, क्योंकि वह धनी व्यक्ति पिछले अठारह वर्षों से अनिद्रा के रोग से कष्ट पा रहा था और उससे छुटकारा पाने के लिए ही निरंजन के पास आया था। निरंजन ने बाद में कहा था – यह तो मैं नहीं जानता कि उस व्यक्ति को कोई लाभ हुआ या नहीं, परन्तु इतना धन-दौलत होने के बावजूद उसके भयानक कष्ट को देखकर जागतिक वैभव की निरर्थकता और खोखलापन की बात मेरी समझ में आ गयी। अब निरंजन को यह अनुभव होने लगा था कि इस शौक से उसे कुछ हासिल नहीं हो रहा है, बल्कि शारीरिक और मानसिक रूप से वह दुर्बल होता जा रहा है। आध्यात्मिक भूख की तीव्र ज्वाला ने उसके इस शौक को दबा दिया। श्रीरामकृष्ण ने पहली ही भेंट के समय अपनी अन्तर्दृष्टि से निरंजन की इस आध्यात्मिक सम्भावना को भाँप लिया था।

बीस वर्ष (न कि अठारह, जैसा कि कुछ लोगों का कहना है) की आयु में निरंजन के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। उसी दिन वह पहली बार श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आया था और अपनी टोली के साथ उन पर कुछ मानसिक प्रयोग करने की चेष्टा की थी। वह १८८२ के पूर्वार्ध की बात है।[४] उस दिन कुछ अन्य दर्शनार्थी भी वहाँ उपस्थित थे। निश्चय ही उन सबमें निरंजन का व्यक्तित्व बिल्कुल भिन्न था। उसके आकर्षक व्यक्तित्व के बारे में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था – सिर्फ आँखों का ही भाव नहीं, उसके सब कुछ में उसके उज्ज्वल चरित्र का आकर्षण है।[५] वह स्वाभाविक रूप से ही सबको आकर्षित कर लेता। उसके बारे में श्रीरामकृष्ण ने कहा था – 'यह एकदम सरल है',[६] इसका 'पुरुष-भाव है',[७] 'देखो न, निरंजन किसी में लिप्त नहीं है। खुद रुपया लगाकर गरीबों को दवाखाने ले जाता है।'[८] उसकी आध्यात्मिक स्थिति के बारे में श्रीरामकृष्ण ने कहा था कि वह एक प्रकार से असाधारण है।[९]

पहली भेंट के दिन जब प्रेतविदों का प्रयोग समाप्त हो गया, तब श्रीरामकृष्ण उपस्थित भक्तों के साथ फिर धर्मचर्चा करने लगे। उन्होंने अपनी स्वाभाविक बालसुलभ प्रसन्न मुद्रा में भावविभोर होकर दिव्य जीवन पर उपदेश देते हुए उपस्थित भक्तों को मुग्ध कर दिया। घरेलू दृष्टान्तों तथा कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त हुए उच्च आध्यात्मिक सत्यों ने सहज भाव से श्रोताओं के हृदय को छू लिया। ऐसा लगा मानो श्रीरामकृष्ण दिव्य चेतना की गहराइयों में डुबकी लगा रहे हों। वस्तुत: वे अधिकांश समय तो उच्च भाव में ही रहते। श्रीरामकृष्ण तब लगभग छियालीस वर्ष के थे और उस समय देश में जो आध्यात्मिक पुनर्जागरण की एक लहर उठी थी, उसके वे एक प्रमुख आधार और मुख्य केन्द्र के रूप में सुपरिचित होने लगे थे। निरंजन श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुआ; परन्तु कुछ देर बाद परमहंस ने उसके साथ जो कुछ किया और कहा वह और भी विलक्षण था।

सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा था। परमहंस के धर्मोपदेश की मोहकता अभी भी वातावरण में व्याप्त थी, तभी उन लोगों को बोध हुआ कि अब उन्हें वापस लौटना है। श्रीरामकृष्ण तो दया और सहानुभूति की प्रतिमूर्ति थे; उनके पास आनेवाले जो भक्त या आगन्तुक अपने लिये सवारी की व्यवस्था करने में असमर्थ होते, वे उन्हें दूसरों द्वारा किराये पर लायी गयी नाव या गाड़ी में स्थान दिलाने की चेष्टा करते। हर भक्त उनके किसी आदेश को पूरा करने का सौभाग्य मिलने पर स्वयं को धन्य अनुभव करता।[१०]

श्रीरामकृष्ण यदि चाहते तो निरंजन के लिए बड़ी आसानी से किसी नाव में जगह दिला देते, परन्तु उन्होंने उसे रुकने के लिए कहा। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार, उन्होंने निरंजन को बड़े प्रेम से खाने को कुछ मिठाइयाँ भी दीं।[११] इसके बाद वे इस युवक को कमरे के एक कोने में ले जाकर उसके

४. परम्परा से ऐसा मानते हैं कि श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय निरंजन की उम्र अठारह वर्ष की थी। सिस्टर देवमाता के अनुसार – 'क्रम के अनुसार बाबूराम के बाद निरंजन आये...। जब वे पहली बार श्रीरामकृष्ण से मिले, तो अठारह वर्ष के थे।' (Sri Ramakrishna and His Disciples, आनन्द आश्रम, ला-क्रिसेन्टा, कैलिफोर्निया, पृ. ९३) स्वामी गम्भीरानन्द ने अपने लेख 'त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण समीपे आगमन' (उद्बोधन, वर्ष ५२, अंक १०, पृष्ठ ५२२) में निरंजन की प्रथम भेंट की अनुमानित तिथि पर विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने १८८२ के पूर्वार्ध को प्रथम भेंट का समय माना है। यदि हम १८६२ को जन्म-वर्ष मानें और प्रथम भेंट के समय आयु अठारह लें, तब यह भेंट १८८० में होनी चाहिए थी, जो स्वीकार्य नहीं होगा। 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' में स्वामी सारदानन्द ने प्रथम भेंट को १८८१ के बाद कभी माना है। फिर 'म' ने भी लिखा है, "१८८१ के अन्त में और १८८२ के प्रारम्भ में नरेन्द्र, राखाल, भवनाथ, बाबूराम, बलराम, निरंजन, 'म', योगिन आये।" (Gospel of Sri Ramakrishna, 4th Ed., Vol. 1, Ramakrishna Math, Madras, 1924, Introduction, पृ. ९-१०)। कुछ अन्य प्रमाणों से ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम भेंट १८८२ के प्रारम्भ में, सम्भवत: फरवरी में हुई होगी।

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, पृ. ५८३; **६.** वही, भाग १, पृ. ५१४; **७.** वही, भाग १, पृ. ५२८; **८.** वही, पृ. ९६७; **९.** वही, भाग १, पृ. ५२७; **१०.** श्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला), गुरुदास बर्मन, उद्बोधन, कलकत्ता, भाग १, पृ. २१६; **११.** श्रीरामकृष्ण पुँथी (बँगला), अक्षयकुमार सेन, उद्बोधन, चतुर्थ सं., पृ. ३१८

साथ इस प्रकार घुल-मिलकर बातें करने लगे, मानो वह उनका कोई अपना हो। वे उससे उसके घर-बार के बारे में पूछने लगे। उन्होंने उससे बड़े स्नेहपूर्वक पूछा, "देख, यदि तू अपना मन भूत-प्रेत में लगाएगा, तो तू भी भूत-प्रेत बन जाएगा। पर यदि अपना मन भगवान में लगाएगा, तो तेरा जीवन दिव्य हो जाएगा। अब बता, तू किसमें मन लगाना पसन्द करेगा?" "निश्चय ही दिव्य बनना चाहूँगा" – निरंजन ने तत्काल उत्तर दिया। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने निरंजन को प्रेतविदों के क्रिया-कलापों से दूर रहने की सलाह दी। निरंजन को लगा कि उसके साथ ऐसा कुछ घट रहा है, जिस पर उसका कोई वश नहीं है। उसने उन्हें सहर्ष यह आश्वासन दे दिया कि वह प्रेतविदों का साथ छोड़ देगा। इस प्रकार निरंजन पूरी तौर से श्रीरामकृष्ण के आकर्षण में बँध गया।

उसके बाद श्रीरामकृष्ण थोड़ी देर निरंजन के साथ बातें करते रहे और उसके विषय में प्राप्त जानकारियों से सन्तुष्ट प्रतीत हुए। वार्तालाप के दौरान उन्होंने उससे कहा, "देख, यदि तू संसारी आदमी के निन्यानबे उपकार करे और एक नुकसान करे, तो वे तेरा मुँह तक नहीं देखेंगे। परन्तु ईश्वर के समक्ष यदि तू निन्यानबे अपराध करे और एक काम उनकी पसन्द का करे, तो वे तेरे सारे अपराध माफ कर देंगे। मनुष्य और ईश्वर के प्रेम में इतना ही अन्तर समझना।"[१२] निरंजन ने उनका यह उपदेश अमूल्य धरोहर के समान सँजोकर रख लिया। वह उसके अन्तस्तल की गहराइयों में भिद गया।

श्रीरामकृष्ण निरंजन से काफी सन्तुष्ट हुए। वे उससे बोले, "अब तो अँधेरा हो चला है। अब क्यों वापस जाएगा? यहीं क्यों नहीं रुक जाता?" परन्तु निरंजन तैयार नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण ने कई बार उससे कहा, "तेरे लिए इतनी दूर जाना बड़ा कष्टप्रद होगा। मत जा। रात यहीं बिता ले।" पर युवक को कुछ भी उसके निश्चय से नहीं डिगा सका। परन्तु श्रीरामकृष्ण इससे नाराज नहीं, बल्कि प्रसन्न ही हुए। अन्त में उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, "अच्छा, ठीक है जा; पर दुबारा जरूर आना। कब आएगा?" निरंजन ने पुन: आने का वादा किया और श्रीरामकृष्ण की चरणधूलि लेकर कलकत्ता रवाना हुआ। श्रीरामकृष्ण के प्रेम और अपनत्व से अभिभूत निरंजन तब कल्पना भी नहीं कर सका था कि उसके भविष्य में होनेवाली महत् घटनाओं का यह श्रीगणेश मात्र है।

निरंजन घर की ओर चल तो रहा था, पर उसका मन श्रीरामकृष्ण की ओर ही खिंचा जा रहा था। वह बार-बार सोच रहा था कि उसे दक्षिणेश्वर में ही रुक जाना था। परन्तु फिर सोचता कि लौटकर ठीक ही किया, नहीं तो उसके मामा बड़े नाराज हो जाते। पर अब निरंजन को अहसास हो गया था कि श्रीरामकृष्ण उससे स्नेह करते हैं। अब उसका व्यक्तित्व बदला हुआ था।

वास्तव में श्रीरामकृष्ण ने निरंजन के मन को इतना अधिक प्रभावित कर दिया था कि उसका सारा चिन्तन उन्हीं के विषय में होता। जब तक निरंजन दुबारा दक्षिणेश्वर नहीं जा सका, तब तक उसके कुछ दिन बड़ी बेचैनी में कटे। लगभग सन्ध्या के समय निरंजन ने श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रवेश किया। श्रीरामकृष्ण की निगाहें ज्योंही निरंजन पर पड़ीं, त्योंही उन्होंने उठकर उसे स्नेहपूर्वक गले से लगा लिया और व्यथित स्वर में बोले, "अरे निरंजन, समय भागा जा रहा है, तू कब भगवान को पाने की चेष्टा करेगा? दिन बीतते जा रहे हैं और तूने यदि भगवान को नहीं पाया, तो जीवन व्यर्थ चला जायेगा। बोल, तू भगवत्-प्राप्ति कब करेगा? कब उनके चरण-कमलों में अपना चित्त लगाएगा? मैं तेरे विषय में यही सोचकर व्यग्र हूँ।" निरंजन विस्मित होकर मन-ही-मन सोचने लगा, "सचमुच अद्भुत है! मैंने ईश्वर को नहीं पाया है, इसके लिए ये इतने आतुर क्यों हैं? ये कौन हो सकते हैं?" श्रीरामकृष्ण की बातों ने उन्हें भीतर तक हिला कर रख दिया। श्रीरामकृष्ण की अपने विषय में गहरी चिन्ता और सहृदयता को देखकर निरंजन के चित्त में भगवत्-साक्षात्कार के लिये तीव्र लालसा का बोध होने लगा। वह पूरी तौर से अभिभूत हो उठा। उसे लगा कि श्रीरामकृष्ण उसके अपने हैं; और उसमें यह भाव इतना प्रबल हो गया कि इस बार श्रीरामकृष्ण को उसे रात में ठहरने के लिए नहीं कहना पड़ा। वस्तुत: उस बार उसने तीन दिन वहाँ उनके साथ बड़े आनन्द में बिताये। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार ने सच ही लिखा है, "निरंजन को किसी तर्क की आवश्यकता नहीं थी। आध्यात्मिक जीवन और भगवान को चुनने के लिए उसके मन में श्रीरामकृष्ण ही सर्वोपरि कारण थे।"[१३]

अब निरंजन के लिए दिव्य ज्ञान के अनन्त विस्तार वाले एक अज्ञात संसार का द्वार खुल गया था। परमगुरु श्रीरामकृष्ण जान गये थे कि निरंजन नित्यसिद्ध है। "नित्यसिद्ध की एक अलग ही श्रेणी है, जैसे अरणी-काठ, जरा-सा रगड़ने से ही आग पैदा हो जाती है; और न रगड़ने से भी होती है। नित्यसिद्ध थोड़ी-सी साधना करने पर ही ईश्वर को पा जाता है; और साधना न करने पर भी पाता है। हाँ, नित्यसिद्ध ईश्वर को पा लेने पर साधना करते हैं। जैसे कुम्हड़े का पौधा, पहले उसमें फल लगता है, तब ऊपर फूल होता है।"[१४] श्रीरामकृष्ण और भी कहते, "इन्हें जन्म से ही चैतन्य प्राप्त है, ये लोकशिक्षा के लिए ही शरीर-धारण करते हैं।"[१५] श्रीरामकृष्ण समझाते कि उन लोगों की आध्यात्मिक

१२. चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय, अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द, पृ.२६१

१३. सिस्टर देवमाता, श्रीरामकृष्ण एण्ड हिज डिसाइपल्स, पृ. ९३

१४. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग १, पृ. ५५६; **१५.** वही, पृ. १४९

(शेष अगले पृष्ठ पर)

सुखी जीवन के सात मूलमंत्र

हर व्यक्ति जीवन में सुख चाहता है, पर सुख की परिभाषा नहीं समझ पाता, इसीलिये वह स्वयं को दुखी मानता है। जीवन उतना दुखमय नहीं है, जितना कि वह समझता हैं। यदि कुछ बातें वह अपने जीवन में सही ढंग से उतार ले, तो जीवन बहुत ही शान्तिपूर्ण हो जायेगा और जिसे जीवन में शान्ति मिल जाय वह स्वयं को निश्चित आनन्दित अनुभव कर लेगा। ऐसे सात नुस्खे इस प्रकार हैं –

(१) बीत गया, सो बीत गया : जीवन में कई घटनाएँ ऐसी हो जाती हैं, जिनकी याद हमें आन्दोलित करती रहती हैं। ऐसी घटनाएँ मन के एक कोने में अपना स्थान बनाकर रहती हैं और अकारण ही हम दु:खी होते रहते हैं। कोई हमें घाटा लग जाता है, या कभी किसी से रिश्ता टूट जाता है। चेष्टा करने पर भी जब हम ऐसे हालात ठीक नहीं कर पाते हैं, तो अच्छा होता कि हम उन्हें भूल जायें और यह विचार-धारा अपना लें कि जो बात हो गयी, सो हो गयी, अब उसे भूलना ही श्रेयस्कर है – बीत गया, सो बीत गया।

(२) जो है, सो है : मनुष्य चाह कर भी जीवन में बहुत कुछ बदल नहीं पाता। परिस्थिति और हालात हमें दुख का बोध कराते रहते हैं, हालाँकि यह बोध हमारे मन की कल्पनाएँ मात्र हैं, क्योंकि हम इस परिस्थिति को बदलने में अक्षम हैं। ऐसे समय में यदि हम अपनी मन:स्थिति बदल सकें, तो दुख का वह अहसास समाप्त हो जायेगा। जैसा कि जिस परिवार में आज हम हैं, तो कई बार हम सभी सदस्यों से अच्छा मेल-जोल नहीं रख पाते। ऐसा लगता है कि सभी हमारे विरोध में है। जी करता है, हम अपने घर से भाग जायें या आत्महत्या कर लें। यह सोच ही बेबुनियाद है, क्योंकि भागकर या आत्महत्या करके भी हम कहाँ पहुँचेंगे? किसी ने बड़ा सच कहा है कि –

घबरा के वे कहते हैं कि हम मर जायेंगे।
मर के भी न मिला चैन, तो किधर जायेंगे।।

जब हम अपना परिवार और रिश्ते बदल नहीं सकते, तो उन्हें खुशी-खुशी अपना लेना ही श्रेयस्कर है। अपनी स्वयं की मन:स्थिति बदल लेना ज्यादा सरल है, क्योंकि परिस्थिति जो है, सो है। उसी कारण 'जो है, सो है' यह सिद्धान्त अपने जीवन में उतार लेना ही श्रेयस्कर है।

(३) दो घण्टे की सोच : मनुष्य कितनी भी योजनाएँ बना ले, चाहे कितना भी भविष्य में जिए परन्तु एक पल में बदलाव आ सकता है। मान लीजिये किसी का रेल्वे का

पिछले पृष्ठ का शेषांश

साधनाओं का मूल यह जानने में है कि मैं (श्रीरामकृष्ण) कौन हूँ, वे कौन हैं और मुझसे इनका क्या सम्बन्ध है।[१६]

श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग युवा शिष्यों में निरंजन ने अपनी बलिष्ठ देह, आध्यात्मिक लगन, साहस, उत्साह, सेवानिष्ठा, सरलता और सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रवृत्ति के कारण एक विशिष्ट स्थान बना लिया था। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन भावावस्था में निरंजन को छू दिया। इस स्पर्श से निरंजन को अद्भुत आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हुए। नेत्रों के सामने दिव्य ज्योति के दर्शन के कारण वह तीन दिनों तक अपने नेत्र बन्द नहीं कर सका। पवित्र मंत्र का वह अनवरत जाप करता रहा। श्रीरामकृष्ण ने निरंजन से विनोद करते हुए कहा, "इस बार ऐसा-वैसा भूत नहीं चढ़ा है, बिल्कुल भगवान-भूत ही गर्दन पर सवार है। तेरी क्या बिसात जो तू उसे गर्दन से उतार सके।"[१७] वर्षों बाद (जुलाई १८८५ में) श्रीरामकृष्ण ने निरंजन के विषय में कहा था, "उसे देखता हूँ, एक ज्योति पर बैठा हुआ है।"[१८] बीच के अल्प समय को छोड़ कर, जब निरंजन ने अपनी विधवा माँ के भरण-पोषण के लिए मुर्शिदाबाद में एक नील की खेती करनेवाले के यहाँ नौकरी की थी, निरंजन प्राय: सदैव श्रीरामकृष्ण के पास ही रहता। निरंजन के भीतर की आध्यात्मिक कली जैसे धीरे-धीरे विभिन्न रंगों में खिलती गयी और सुवास बिखेरने लगी, वैसे-वैसे उसकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ भी आकर्षक रूप लेती गयीं।

दिन ज्यों-ज्यों बीतते जा रहे थे, त्यों-त्यों श्रीरामकृष्ण की स्नेह-छाया उस पर उतनी ही गहरी होती जा रही थी। एक दिन निरंजन ने उनके समक्ष स्वीकार किया, "जी, पहले प्यार ही था, परन्तु अब आपको छोड़कर नहीं रहा जाता।"[१९] श्रीरामकृष्ण और निरंजन के इस अलौकिक सम्बन्ध को चित्रित करने की कोई चेष्टा श्रीरामकृष्ण के अद्भुत स्वभाव को ही उजागर करती है। इस सम्बन्ध ने धीरे-धीरे शिष्य के जीवन में नये मार्गों को खोल दिया, ताकि वह अपने गुरु के महान् सन्देश के प्रचार का एक उपयुक्त यंत्र बन सके।

निरंजन अपने अन्य गुरुभाइयों के ही समान अपने गुरुदेव की अपने ढंग से सेवा किया करते, परन्तु श्री सारदा देवी के प्रति उनकी भक्ति अतुलनीय थी। श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद स्वामी विवेकानन्द के नेतृत्व में वे उसी उत्साह से कार्य करते रहे। संन्यास-दीक्षा के बाद उन्हें स्वामी निरंजनानन्द का नाम मिला। जीवन के अन्तिम दिनों में वे कनखल (हरिद्वार) में थे, जहाँ उन्होंने ९ मई, १९०४ ई.[२०] को हैजे से आक्रान्त होकर देहत्याग कर किया। ❑❑❑

१६. वही, भाग १, पृ. ५२८; **१७.** अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द, पृ. २६१; **१८.** वही, भाग २, पृ. ९६७; **१९.** वही, भाग २, पृ. ११२१; **२०.** उद्बोधन, वर्ष ६, अंक ११, पृ. ३४६

आरक्षण हो, किसी कार्यक्रम में पहुँचना हो या और कोई अन्य आवश्यक कार्य हो। परन्तु ट्रेन अगर देरी से आये, या वह व्यक्ति बीमार हो जाये अथवा अचानक कोई दूसरी अड़चन आ जाये, तो क्या होगा? हमारी योजना ठप्प हो जायेगी। सब कुछ धरा-का-धरा रह जायेगा।

इसका यह मतलब नहीं कि हम कोई योजना ही न बनाएँ। योजना तो हमें जरूर बनानी चाहिए, परन्तु हर समय यह सोच बनाये रखनी चाहिए कि दो घंटे में या दो पल में परिस्थिति बदल सकती है। मन की तैयारी रखनी चाहिए, ताकि हम विचलित न हों और दुखी होने से बच सके।

(४) शिकायतें न करें : सब प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे शिकायतें करने की बहुत बुरी आदत है। मनुष्य की शिकायतों का सिलसिला कभी समाप्त ही नहीं होता, हालांकि शिकायतों या बड़बड़ाने से लाभ कुछ भी नहीं होता, जैसे कि बिजली चली गयी है, या मौसम बहुत गर्म है या अमुक व्यक्ति बड़ा क्रोधी है, आदि आदि। इन बातों की शिकायतें करके हम क्या पाते हैं? कुछ भी तो नहीं। शायद शिकायतें करके हम क्षण भर के लिये थोड़ा राहत महसूस कर लें, पर दूसरों को निश्चित ही अस्वस्थ कर देंगे। कोई भी व्यक्ति हमारी शिकायतें सुनने को उत्सुक नहीं है, हमें चाहिये कि हम अपनी विचारधारा बदलकर, परिस्थिति में सुधार लाने का प्रयत्न करें या परिस्थिति से समझौता कर लें। यदि कोई आज से ही शिकायत न करने का निर्णय लेता है, तो वह स्वयं तो सुखी होगा ही, दूसरों पर भी उपकार करेगा।

(५) जो होना है, सो तो होगा ही : महाभारत का युद्ध इस सत्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। काफी चेष्टा के बाद भी इस महायुद्ध को टाला नहीं जा सका। भगवान श्रीकृष्ण भी इसे रोक नहीं सके, क्योंकि उसे तो होना ही था और इसी के फलस्वरूप श्रीमद्-भगवद्-गीता का जन्म हुआ, जिसमें भगवान ने मानो सभी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहा – "हे अर्जुन, तू करने वाला कौन है? तेरे करने या न करने से यहाँ कुछ भी नहीं होगा। जो भी होगा वह मेरी ही इच्छा से होगा, इसलिये हे अर्जुन, तू मेरी शरण आ जा।" यदि हम अपने जीवन में इसी तरह की मनोवृत्ति अपना लें, तो हम कठिन परिस्थितियों में भी अधीर नहीं होंगे। हममें न अहंकार आयेगा और न ही ईर्ष्या-द्वेष ही। क्योंकि मैं करनेवाला ही नहीं रहा। सब तो उसी – परमात्मा की मर्जी है।

(६) दूसरे को न देखें : मनुष्य स्वयं में तो कम और दूसरों में ज्यादा जीता है। फिर वह देखता है कि अगला यश में, पद में या अमीरी में मुझसे कितना नीचे या ऊपर है। परन्तु मनुष्य को यही सोच सुख दे सकती है कि अपने पास जितना भी है, अपने लिये पर्याप्त है। दुर्भाग्यवश मनुष्य को दूसरे का देखकर उसके अनुसार राग-द्वेष पालने की आदत है। यह रोग जन्म-जन्मान्तर से है। दूसरे का सुख हमें दुःख दे जाता है, ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न कर देता है। इन विकारों की शृंखला का कोई अन्त नहीं। दुःख की ये अनुभूतियाँ दूसरे के सुख को देखकर ही उत्पन्न होती है।

मनुष्य को इससे ऊपर उठना चाहिए। सिर्फ मनुष्य के पास ही चुनने की क्षमता है कि वह भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध या महावीर जितना ऊँचा उठ सके, अथवा हिटलर या नादिर शाह जैसा बन कर, पशुओं से भी नीचे गिर सकता है। महावीर और बुद्ध, सुख-दुःख से पार – सम्पूर्ण सृष्टि को चैतन्यमय देखकर परम आनन्द को प्राप्त हुए थे। आनन्द ही परम उपलब्धि है। आनन्द का कोई विरोधी शब्द नहीं है, इसी कारण जो दूसरों के सुख में अपना सुख देखेगा, वही स्वयं में प्रसन्नचित रहकर आनन्द को उपलब्धि कर सकेगा।

(७) अपेक्षाएँ न करें : मनुष्य है तो मन है; और मन है तो अपेक्षाएँ सुख और दुःख लाती हैं। सच्चाई तो यह है कि सुख कभी अकेला आता ही नहीं। उसके साथ दुःख लगा ही रहता है। अपेक्षाएँ कभी पूर्ण होती नहीं। एक पूरी होते ही दूसरी खड़ी हो जाती है और तीसरी की तैयारी शुरू हो जाती है। अपेक्षा किसी भी चीज की हो सकती है – पद की, यश की, मान-सम्मान की, रूपये-पैसे की आदि, आदि। ये सभी कभी पूरी नहीं होंगी। पर मनुष्य का स्वभाव ही दुःख सँजोये रखता है। जो अपेक्षा पूर्ण नहीं होती, उसका दुःख सँजोये रखता है। जो व्यक्ति यह शृंखला तोड़ सकेगा, जो अपेक्षाओं से पार हो सकेगा, जो यथालाभ में सन्तोष पा सकेगा, "जो भी हुआ है, हो रहा है और होगा – वह परम-शक्ति की इच्छा है" – ऐसी सोच जो व्यक्ति अपने जीवन में उतार सकेगा, उसके लिये जीवन कभी जटिल नहीं होगा।

व्यक्ति ये सात सिद्धान्त अपने जीवन में उतार ले, तो वह बड़ी आसानी से अपना जीवन आनन्दमय बना सकेगा। आनन्द सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है और वह स्वयं में ही स्थित है। सही विचारधारा से कोई भी आनन्दमय हो सकता है। ऐसा आनन्दप्राप्त व्यक्ति सारे संसार को आनन्दमय बना देगा।

(विज्ञान-चेतना के सौजन्य से)

स्वामी विवेकानन्द की विश्व को देन

दिनेश राठौर

स्वामी विवेकानन्द शक्ति के जीवन्त प्रतीक थे। शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्ति उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। स्वामीजी ने सारे संसार में जिस वैचारिक क्रान्ति का सूत्रपात किया और इसी से उनकी अदम्य शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

स्वामीजी के विचार ही उनकी विश्व को देन है। स्वामीजी अपनी अमरवाणी में घोषणा करते हैं, ''तुम प्रभु की सन्तान, शाश्वत आनन्द के हिस्सेदार, पवित्र और पूर्ण हो। ऐ पृथ्वी-निवासी, ईश्वर-स्वरूप भाइयो ! तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह कथन मानव-स्वरूप पर एक लांछन है। ये सिहो, आओ और अपने भेड़-बकरी होने का भ्रम दूर कर दो। तुम अमर आत्मा, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव शाश्वत और मंगलमय हो। तुम जड़ नहीं हो, तुम शरीर नहीं हो, जड़ तुम्हारा गुलाम है, तुम इसके गुलाम नहीं।

स्वामीजी ऐसा इसलिये कहते हैं, क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्यों ने अपने दैवी स्वरूप को भुलाकर स्वयं को अत्यन्त क्षुद्र और पौरुष-विहीन समझ रखा है। उनकी दुर्बलता को दूर करने हेतु स्वामीजी ने इस अमरवाणी का उद्घोष किया। वे कहते हैं कि संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी हो, तो वह है 'निर्भीकता'। यह सत्य है कि इस ऐहिक संसार में अथवा आध्यात्मिक जगत में भय ही पतन और पाप का कारण है। भय से ही दु:ख होता है, यही मृत्यु का कारण है और इसी से बुराई और पाप होते हैं।

''मैं उन प्रभु का सेवक हूँ जिसे अज्ञानी लोग मनुष्य कहते हैं'' – स्वामीजी का यह विचार भी विश्व को उनकी महान देन है। यह विचारणीय बात है कि हम अज्ञानी जिन्हें मनुष्य कहते हैं, उन्हें ही स्वामीजी प्रभु और स्वयं को उनका सेवक कह रहे हैं। आखिर वह क्या है जिसके कारण हमारी दृष्टि स्वामीजी की दृष्टि से भिन्न हो जाती है? वह है 'अज्ञान' और इस अज्ञान को ही तो स्वामीजी मिटा देना चाहते थे। इसी के लिये उन्होंने अपना सारा जीवन दे दिया। इसी के लिए वे शिक्षा पद्धति को नई दिशा देना चाहते थे। स्वामीजी कहते हैं, ''शिक्षा विविध जानकारियों का ढेर नहीं हैं, जिन्हें तुम्हारे मस्तिष्क में ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना आजन्म वहीं पड़ा रहकर गड़बड़ी मचाया करता है। हमें उन विचारों की अनुभूति कर लेने की आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, मनुष्य-निर्माण तथा चरित्र-निर्माण में सहायक हों। यदि आप केवल पांच ही परखे हुये विचार आत्मसात् करके उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्र का निर्माण कर लेते हैं, तो आप पूरे ग्रन्थालय को कण्ठस्थ करने वाले की अपेक्षा अधिक शिक्षित हैं।''

''शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।''

स्वामीजी शुष्क ज्ञानी नहीं होना चाहते थे। वे भक्ति के साथ ज्ञान को जोड़ देना चाहते थे। स्वामीजी कहते हैं – सारे संसार के लिये, सारे संसार के मंगल के लिये मुझे अन्तिम साँस तक काम करना है – 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च।' इस 'जगद्धिताय च' पर थोड़ा ध्यान दें। केवल हिन्दुओं के हितार्थ नहीं, केवल भारत के कल्याण हेतु नहीं, बल्कि सारे जगत के हित के लिये, सारे जगत् के मंगल हेतु मेरा जीवन समर्पित है। आत्मा क्या केवल भारतवर्ष में है? क्या केवल हिन्दुओं में है? आत्मा सारे विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त है – **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**। सारी सृष्टि में कण-कण में व्याप्त परमसत्ता का अनुभव प्राप्त करनेवाला व्यक्ति केवल अपने परिवार, केवल अपनी जाति या केवल अपने देश के लिये नहीं, बल्कि 'जगद्धिताय' अर्थात् सारे विश्व के लिये काम करता है।

क्या यह सन्देश कभी पुराना पड़ सकता है? क्या इस सन्देश की प्रासंगिकता आज नहीं है? अपने मोक्ष के लिये और सारे संसार के हित के लिये हमें जीवन जीना चाहिये; त्याग के माध्यम से जीवन जीना चाहिए और सेवा के माध्यम से जीवन जीना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी का यही सन्देश है और यही उनकी विश्व को देन है। महामना मालवीय जी का एक प्रिय दोहा मुझे याद आ रहा है –

मर जाऊँ मांगू नहीं अपने हित के काज।
परमारथ के काज में मोहि न आवत लाज।।

मैं मर जाऊँगा, पर अपने लिए पैसे नहीं मागूँगा, किन्तु समाज-कल्याण के लिये माँगने में मुझे लज्जा नहीं आती। उन्हीं मालवीय जी ने विश्वविख्यात् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की भिक्षा माँग कर स्थापना की। त्याग और सेवा के रास्ते पर चलकर ही उस संस्था का विकास हुआ।

समर्पण का यह भाव स्वामीजी के विचारों की ही देन है। इसलिये किसी भी प्रकार की हीनता, दीनता या संकोच का अनुभव किए बिना हम आग्रहपूर्वक बारम्बार दुहराकर कहते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का सन्देश सार्वभौमिक और सार्वकालिक सत्य है – यह सभी देशों के लिये, सभी कालों के लिये, सभी व्यक्तियों के लिए सत्य है। ❑❑❑
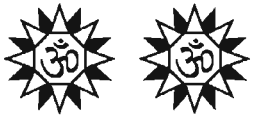
स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२१)
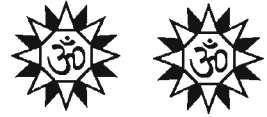
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

३. चारों युगों में धर्म एक ही है

महाराज भाव में स्थिर होकर बैठे हुए हैं। अन्तर्मुखी अवस्था है। मुख से शब्द नहीं निकल रहे हैं। थोड़ी देर इसी प्रकार रहने के बाद वे सुमधुर कण्ठ से 'हरिबोल', 'हरिबोल', 'जय गुरु', 'जय गुरु', 'जय प्रभु', 'जय प्रभु' – कहते कहते तालियाँ बजाने लगे।

भाव का संवरण हो जाने के बाद महाराज बोलने लगे – "दक्षिणेश्वर में देखा है ठाकुर के पास किसी भक्त के आने पर वे उसका कितने ही प्रकार से सत्कार करते थे। कहते – पान खायेंगे? पान न खाने पर कहते – तम्बाकू पीयेंगे? इसी प्रकार वे भक्तों का कितने ही प्रकार से यत्न करते थे। हम लोगों को भी वैसा ही अभ्यास हो गया है। तुम लोगों से भी यही कहता हूँ – यहाँ पर जो भक्त लोग आते हैं, वे क्या केवल श्रीठाकुर तथा स्वामीजी का एक एक चित्र या भवन, गुलाब का उद्यान आदि देखकर चले जायेंगे? प्रेम के द्वारा उनके भीतर ठाकुर-स्वामीजी का भाव घुसा देना होगा। वे लोग कितने कष्ट उठाकर यहाँ आते हैं! कितने लोग अपने इलाके में लौटकर मठ के बारे में चर्चा करते हैं! तुम लोगों के पास आकर यदि उन लोगों को शान्ति न मिले, तो फिर तुम लोग किसलिए साधु हो? प्रेम के द्वारा दुनिया को अपना बना लेना होगा। समझे?" महाराज गुनगुनाते हुए गाने लगे – (धुन – बाउल-एकताल) –

ईश्वर के प्रेमियों का स्वभाव ही अलग होता है
उसमें अपने पराये का भेद नहीं रहता ।।
ईश्वर-प्रेमी एक ऐसा रत्न होता है,
जिसके समान अन्य कुछ नहीं होता,
जो व्यक्ति ईश्वर-प्रेमी होता है
वह इन्द्र के पद को भी तुच्छ समझता है।
उसके मुख पर सर्वदा हँसी छाई रहती है
और हृदय में अमृत भरा रहता है ।।
प्रेमी जाति-मान और प्रसिद्धि नहीं चाहता,
उसका हृदय भाव से ऐसा परिपूर्ण रहता है कि
यदि कोई निन्दा करे, तो भी उसे खेद नहीं होता।
उसके हाथ में स्वर्ग की चाभी होती है,
इसलिये उसे भला किसका भय हो सकता है !!
ईश्वर-प्रेमी का चाल-चलन विचित्र होता है,
यदि उसका भाग्य-चन्द्र अन्धकार में छिप जाय,
तो भी उसके मुख पर सिलवट नहीं आती।
चौदहों भुवन का नाश हो जाय,
तो वह आसमान में अपना स्थान बना लेता है ।।

बाबूराम महाराज – "मठ में ठाकुर के उत्सव के दिन एक पगला साधु आया था। वह जो सिर पर जटा बाँधे, भिन्न-भिन्न रंगों के टुकड़ों से बना कुर्ता पहने, जहाँ दरिद्र-नारायणों की सेवा हो रही थी, वहीं मेरे पास आकर बोला – प्रसाद दो। मैंने उसे एक पत्तल लेकर बैठने को कहा, परन्तु वह नहीं बैठा। कोई थोड़ा-सा प्रसाद और एक गिलास दही उसके हाथ में देने आया, वह बोला – दही का पूरा एक घमेला दो। मैंने समझाकर कहा कि आज इतने लोग हैं, सबको देना होगा और हमारे पास दही भी कम है। इस पर वह मेरे ऊपर नाराज होकर बहुत-कुछ कहने लगा। मैंने हाथ जोड़कर नमस्कार करके मीठे शब्दों में समझाकर उसे शान्त किया। सभी तो नारायण ही हैं न!

"देखो न, मेरे पास जो भी आता है, सब ठाकुर की सेवा में लगा देता हूँ। पुलिया के नीचे बहते जल के समान जैसे एक ओर से आता है, वैसे ही दूसरी ओर भक्त-सेवा में चला जाता है, इसीलिए ठाकुर जुटा देते हैं। पर कोई भी चीज बरबाद नहीं होनी चाहिए, अन्यथा आना बन्द हो जाता है।"

रात हो गयी है। महाराज उठकर ऊपर चले गये।

बेलूड़ मठ और विश्वविद्यालय

१. परा वैराग्य और शान्ति

बाबूराम महाराज – "तुम लोग अपने मन के भीतर आश्विन की आँधी* के समान वैराग्य की आँधी उठाओ। मन से काम-कांचन जड़सहित उखड़ जायँ, नष्ट हो जायँ। उस आँधी के समय गिरते हुए पेड़ों को छोड़कर जैसे भयभीत पक्षी भाग गये थे, वैसे ही वैराग्य की आँधी से स्वार्थपरता, द्वेष, ईर्ष्या, अभिमान आदि अविद्या-रूपी पक्षीगण तुम्हारे मन से भाग जायँ। आँधी के बाद जैसे प्रकृति शान्त भाव धारण करती है, वैसे ही तीव्र वैराग्य के बाद तुम्हें शान्त जीवन की प्राप्ति हो। इस प्रकार जीवन गढ़ने के बाद तुम लोग – पेड़ के नीचे या मैदान में, जहाँ कहीं भी जाओगे, जहाँ कहीं भी बैठोगे, वहीं ठाकुर का आश्रम हो जायेगा; लोग दल-के-दल

* ५ अक्तूबर १८६४ ई. को आश्विन के महीने में कलकत्ते में एक भयंकर आँधी आयी थी, जो आश्विन की आँधी के नाम से प्रसिद्ध है।

तुमसे उपदेश लेने आयेंगे। (परन्तु) जीवन गढ़े बिना, केवल व्याख्यान देते घूमते रहने से कोई फल नहीं होगा।

"ठाकुर त्याग-वैराग्य की जीवन्त मूर्ति थे। उन्हीं को आदर्श बनाकर, उन्हीं के साँचे में डालकर अपने मन को गढ़ लो। जैसे स्वर्णकार सोने को गलाते समय हाथ-पाँव-मुख आदि सब एक साथ चलाते हैं। जल्दी-से-जल्दी सोना गलाने के लिये वे लोग पाँव से भाथी, हाथ से पंखा और मुख से फूँक मारकर हवा करते हैं। फिर सोने के पिघलकर तरल हो जाने पर उसे साँचे में ढाल देते हैं। इसके बाद वे बैठे-बैठे तम्बाकू पीते हैं। उसी प्रकार तुम लोग भी देह, मन, प्राण – सब लगाकर, अहंता का विसर्जन करके, भगवान के भाव में प्रेम से बिल्कुल उन्मत्त हो जाओ, गल जाओ, डूब जाओ। जब तक तुम लोगों के मन में एक दृढ़ छाप, एक दृढ़ संस्कार नहीं अंकित हो जाता, तब तक इस त्याग-वैराग्य की अग्नि को तीव्रतापूर्वक जलाए रखो। **सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्** – जगत की सारी वस्तुएँ ही भय से परिपूर्ण हैं, एकमात्र वैराग्य ही अभय है।

"आयु अधिक हो जाने पर तुम अपने मन को वशीभूत नहीं कर सकोगे। तब मन को अपनी इच्छानुसार आकार नहीं दे सकोगे। ठाकुर कहते थे – सरसों की पोटली के समान मन के बिखर जाने पर उसे एकत्र करना बड़ा कठिन हो जाता है। पक्की हण्डी टूट जाने पर उसे फिर से गढ़ा नहीं जा सकता, वैसे ही मन के विषयों में पक जाने पर, उससे ईश्वर-चिन्तन नहीं किया जा सकता। विषयों से रँग जाने के बाद मन पर आसानी से ईश्वरानुराग का रंग नहीं पकड़ता। इसीलिए साधन-भजन आदि जो कुछ करना है, वह इस युवावस्था में ही कर लेना चाहिए। इस आयु में इन्द्रियाँ जैसी प्रबल होती हैं, उन्हें वशीभूत करने की क्षमता भी इन्द्रियों के स्वामी मन में होती है। वृद्ध होने के बाद मन में वह क्षमता नहीं रह जाती। मनुष्य मन से ही बद्ध है और मन से ही मुक्त – **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। जैसे सफेद कपड़ा सभी प्रकार के रंग पकड़ लेता है, परन्तु छपाई वाला कपड़ा अन्य कोई रंग नहीं पकड़ता। मन जब सादा, सरल तथा विषय-बुद्धि-रहित होता है, तभी उसे प्रेम-भक्ति के रंग में डुबा लेना पड़ता है। साधु लोग धोबी के समान हैं, मनरूपी वस्त्र को बीच-बीच में इसी धोबी के यहाँ धुलाना चाहिए, बीच-बीच में साधुसंग करना चाहिए। संसार में रहने से मन गन्दगी को पकड़ेगा ही।" इतना कहकर महाराज अपने मधुर कण्ठ से गुनगुनाते हुए गाने लगे –

हे श्यामा ! मनरूपी साँचे में तुम्हें डालकर
तुम्हारी मानसिक मूर्ति गढ़ लूँगा ।
मेरा मन खोट से भरा हुआ है,
वह भला तुम्हारे भाव में कहाँ गलने वाला है !
हे भावरूपिणी, तुम मेरे भाव-रूपी अग्नि में
गलकर मेरी तारिणी बन जाओ !!
मैं तुम्हारे उसी रूप को देखूँगा,
जिसे देखकर भोलेनाथ शिव भूल जाते है
हे शिवानी, मेरे हृदय-कमल में दर्शन देकर
मेरी आशा को पूर्ण करो ।।
गंगाजल से ही गंगाजी की पूजा होती है,
हे वन के फूलों द्वारा पूजित होनेवाली माँ,
मैं एकान्त में बैठकर सोच रहा हूँ कि
किन उपचारों से तुम्हारी पूजा करूँगा !
माँ, मैं स्वयं भी तो अपना नहीं हूँ और
इस पृथ्वी पर मेरा कुछ भी तो नहीं है ।
यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारी ही सृष्टि है,
केवल अन्धे लोग ही इसे 'मेरा-मेरा' कहते हैं ।।

"अभिमान, अहंकार तथा स्वार्थपरता ही वह खोट है। वैराग्य-अग्नि से उस खोट को जलाना पड़ता है।"

२. बेलूड़ मठ – आदर्श मनुष्य गढ़ने का यंत्र

बाबूराम महाराज – "स्वामीजी आदर्श चरित्रवान मनुष्य तैयार करने के लिए यह मठ बना गये हैं। भारतवर्ष में मठों तथा मन्दिरों की कमी नहीं है। हजारों मठों के ऊपर एक और संख्या बढ़ाने के लिए संगठन-विरागी स्वामीजी ने यह मठ नहीं बनाया। जैसे विश्वविद्यालय से प्रतिवर्ष दल-के-दल लड़के पास करके बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार यहाँ से भी दल-के-दल लोग ठाकुर का उदार असाम्प्रदायिक भाव लेकर, उसी भाव में अपना जीवन गठित करके निकलेंगे और वे लोग सम्पूर्ण पृथ्वी में ठाकुर का उदार समन्वय का भाव फैलायेंगे। ठाकुर कोई दल या सम्प्रदाय गढ़ने नहीं आये थे। खबरदार, तुम लोग भी कोई दल मत गढ़ना।

"ठाकुर कहा करते थे – बँधे हुए तालाब में ही काई जमती है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, वैष्णव, शैव आदि समस्त सम्प्रदायों से उनकी भीतर एकत्र कचरे के ढेर को दूर करके, उन सबमें प्राण-प्रतिष्ठा करने की एक प्रेरणा देने, एक जागरण लाने के लिए ही वे आये थे। इसीलिए भावदर्शी स्वामीजी ने इस नवीन उदार असाम्प्रदायिक भाव के प्रसारण के केन्द्ररूप, चरित्रवान, त्यागी तथा निःस्वार्थी युवकों के लिए इस बेलूड़ मठ का निर्माण किया।

"तुम लोग ठाकुर के आश्रय में आकर यदि उसी आदर्श पर जीवन नहीं गढ़ सके, तो तुम्हारे यहाँ आने को धिक्कार है। तो फिर किसलिए अपना घर-द्वार छोड़कर, माँ-बाप को रुलाकर यहाँ आये? तुम लोग ठाकुर के आश्रित हो, श्रीमाँ की सन्तान हो, तुम्हारा त्याग-वैराग्य देखकर क्या लोग अवाक् नहीं होंगे, सीखेंगे नहीं? ठाकुर का थोड़ा-थोड़ा कार्य करना, सुबह-शाम थोड़ा-थोड़ा जप-ध्यान करना और थोड़ा-

सा दाल-भात खाकर यहाँ पड़े रहना या फिर एक गेरुआ लेकर सज-धज कर, गले में रुद्राक्ष की माला, कपाल पर विभूति तथा हाथ में कमण्डलु लेकर आज काशी, कल प्रयाग, परसों हृषीकेश, लक्ष्मण-झूला या उत्तरकाशी, आज यहाँ, कल वहाँ – इसी प्रकार यदि जीवन भर घूमना-फिरना और गीता के याद किये हुए दो-चार श्लोक झाड़ते रहना – यही क्या जीवन है? यही क्या आदर्श है?

''देखता हूँ कि जो लोग इधर-उधर घूमते-फिरते रहते हैं, उनकी अपेक्षा जो लोग एक स्थान पर स्थिर बैठकर या तो ठाकुर का कार्य अथवा ध्यान-जप में मग्न रहते हैं, वे लोग बहुत अधिक आध्यात्मिक उन्नति करते हैं। स्थिरतापूर्वक एक जगह बैठकर अभ्यास करने से ध्यान-जप जैसा जमता है, साधक अवस्था में इधर-उधर घूमने से क्या वैसा होता है! इससे तो मन चंचल होता है। ठाकुर मस्तूल पकड़े रहने को कहते थे। एक पक्षी जहाज के मस्तूल पर बैठा था। जहाज जब बीच समुद्र में जा पहुँचा, तब पेड़-पौधे या अन्य पक्षियों को न देखकर वह पक्षी भयभीत होकर उत्तर की ओर उड़ गया। परन्तु कोई कूल-किनारा तथा बैठने का स्थान न पाकर, समुद्र में गिर जाने के भय से लौटकर उसी मस्तूल पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद वह दक्षिण की ओर उड़ा। उस ओर भी काफी दूर जाकर कोई कूल-किनारा न मिलने से, उसने अपने मस्तूल पर आकर आश्रय लिया। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिम की ओर उड़कर भी पक्षी को जब किनारा देखने को नहीं मिला, तब वह चुपचाप आकर उसी मस्तूल पर बैठ गया। और इधर-उधर कहीं नहीं गया, मस्तूल पर ही बैठा रहा। कुछ दिनों बाद जहाज के किनारे पहुँचने पर पक्षी ने दूरस्थित पेड़-पौधों तथा पक्षियों को देखा और आनन्दपूर्वक उसी ओर उड़ गया।'' महाराज गाने लगे –

रे मन, काशी जाकर क्या होगा !
काली के चरण ही कैवल्य-मुक्ति निहित हैं ।।
साढ़े तीस करोड़ तीर्थ
माँ के उन चरणों में ही निवास करते हैं ।
यदि संध्या-वन्दन जानते हो, शास्त्र मानते हो,
तो फिर काशी में निवास की क्या जरूरत !!
बैठकर अपने हृदय-कमल में
उस चार भुजाओंवाली
मुक्तकेशी का ध्यान करो
कवि रामप्रसाद कहते हैं कि

इस कमरे में बैठे-बैठे ही तुम्हें
दिन-रात काशीवास का फल मिलता रहेगा ।।

''सर्वदा स्मरण रखना कि समग्र जगत् की आँखें तुम्हारी ओर, तुम्हारे कार्य-कलापों की ओर लगी हुई हैं। तुम्हारे मुख बन्द हों, कार्य ही बातें करें। मठ के हर गृही भक्त तथा साधु के ऊपर एक महान् दायित्व है। इस उत्तरदायित्व का ठीक-ठीक निर्वाह न कर पाने पर, तुम लोग ठाकुर को क्या उत्तर दोगे? (साधुओं से) तुम लोग धन्य हो कि तुम्हारे ही ऊपर इसकी अधिक जिम्मेदारी है। स्मरण रखना होगा कि बेलूड़ मठ का साधु होने के लिए आना, ठाकुर की सन्तान होना, हँसी-खेल नहीं, बल्कि एक महान् दायित्व स्वीकार करना है। केवल काछा खोलकर गेरुआ पहन लेने से ही बेलूड़ मठ का साधु नहीं हुआ जा सकता। मैंने देखा – कितने ही आये और चले गये ! ऋषिकोटि दूरद्रष्टा स्वामीजी का आदेश है – किसी भी हालत में यह मठ बाबाजी लोगों की ठाकुरबाड़ी में परिणत न हो। ठाकुरबाड़ी से दो-चार लोगों का कुछ उपकार होता है, दस-पाँच लोगों का कुतूहल-निवारण होता है। परन्तु इस के द्वारा समग्र जगत् का कल्याण होगा। यह मठ शोरगुल मचाने का स्थान नहीं है। ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म के समन्वय से चरित्र गढ़ना ही इस मठ का उद्देश्य है। विश्वविद्यालय बहुत से क्लर्क पैदा कर रहा है और बेलूड़ मठ वास्तविक मनुष्य तैयार करने का यंत्र है।

''जब ठाकुर के दरबार में आ गये हो, तो तुम्हारा कम सौभाग्य नहीं है। अब मंत्र का साधन अथवा शरीर का नाश – जो भी हो, एक कर जाओ। या तो सिद्धि मिले अथवा मृत्यु हो जाय। उन्नति हो या फिर मृत्यु। एक हाथ में उन्नति हो और दूसरे में मृत्यु – इसी प्रकार की दृढ़ प्रतिज्ञा चाहिए, जिद चाहिए। और चाहिए – धैर्य। चालाकी द्वारा कोई महान् कार्य नहीं होता। रोम नगरी एक दिन में नहीं बनी थी। एक दिन में जीवन का निर्माण नहीं होता। प्रतिदिन के प्रतिक्षण के कार्यकलाप की समष्टि ही जीवन है। मन तथा समय का व्यर्थ अपव्यय न हो। मन में यह संकल्प लेकर चलना होगा कि एक क्षण या एक मुहूर्त भी व्यर्थ या अनुचित कार्य में नष्ट न हो। निःस्वार्थ मन से फलाकांक्षा रहित होकर जो कुछ किया जाता है, वही कार्य है; और जिसमें स्वार्थ तथा अहंता हो, वही अकार्य है। हर क्षण तथा हर दिन जीवन-सौंध की एक-एक ईंट और एक-एक स्तर है। ईंट जितना ही मजबूत होगी, जीवन उतना ही सुदृढ़ होगा।'' ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की बातें

द्विजवर मुखोपाध्याय

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उन दिनों मैं दिल्ली के एक अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाता था। वहाँ हम लोगों की एक भक्त-मण्डली थी। हम लोग आपस में ठाकुर के विषय में चर्चा करते। माँ की बातें भी सुनी थीं, पर देखा नहीं था। माँ का नाम जानता था। एक रात स्वप्न में देखा – बीच में माँ और उनके एक तरफ माँ दुर्गा तथा दूसरी तरफ माँ काली बैठी हैं। मैं हड़बड़ाकर बिस्तरे पर उठ बैठा। हम लोगों के गृहदेवता नारायण हैं – नाम है राजराजेश्वर। उनका स्मरण तथा प्रणाम करके फिर सोया। नींद आ गयी, फिर स्वप्न देखा – माँ के एक ओर जगद्धात्री हैं, दूसरी ओर काली। माँ ने कहा, "मैं सारदा हूँ।" इस बार भय नहीं लगा, पर स्वप्न टूट गया। दुबारा नींद नहीं आयी। माँ का दर्शन करने के लिए मन व्याकुल हो उठा। सोचा – किस प्रकार कहाँ माँ का दर्शन मिले! उन दिनों यात्राएँ अधिकांशत: पैदल ही करनी पड़ती थी। पूजा की छुट्टियों में दिल्ली से कलकत्ता आकर उद्बोधन में मैं स्वामी सारदानन्द महाराज से मिला। मैंने उनसे पूछा, "माँ कहाँ हैं?" महाराज बोले, "जयरामबाटी में।" वर्धमान होकर जयरामबाटी गया। वर्धमान तक ट्रेन से उसके बाद पैदल चलकर आरामबाग होते हुए जयरामबाटी। वहाँ पहुँचकर सुना कि माँ राधू दीदी को लेकर कोआलपाड़ा में रहती हैं। उस रात जयरामबाटी में ही रहा। अगले दिन एक महाराज ने मेरे साथ एक आदमी भेजा कि वह कुछ दूर जाकर मुझे कोआलपाड़ा का रास्ता दिखा देगा। रास्ता दिखाकर वह चला गया। चलते-चलते देखा – एक तालाब में बहुत से कमल खिले हैं। बहुत इच्छा हुई कि माँ की चरण-पूजा के लिए कुछ कमल तोड़ लूँ। तोड़ने में सारे कपड़े भीग गये। गीले कपड़ों में ही फिर पैदल चलने लगा। जब कोआलपाड़ा पहुँचा, तब तक भीगे कपड़े शरीर पर ही सूख चुके थे। आश्रम में जाकर सुना – माँ पूजा घर में हैं। आश्रम के एक ब्रह्मचारी महाराज ने मुझे देखकर कहा, "आप क्या दिल्ली से आये हैं? माँ का दर्शन करने? दीक्षा लेने?" मैंने अवाक् होकर कहा, "हाँ, लेकिन आपने कैसे यह जाना?" वे बोले, "माँ ने कहा है। आपके हाथ में कमल का फूल होगा, यह भी माँ ने बता दिया है।" सुनकर मेरी वाणी मौन हो गयी। ब्रह्मचारी बोले, "माँ ने कहा है, पूजा समाप्त होने पर आज ही वे आपको दीक्षा देंगी।" उस समय मैं स्तम्भित रह गया।

कुछ देर बाद वे बोले, "माँ आपको बुला रही हैं।" पूजागृह में जाकर माँ को प्रणाम किया। उसके बाद माँ को देखते ही मैं बेसुध हो गया। जब होश आया तो देखा कि वे मेरे सिर पीठ पर हाथ फेर रही हैं। कह रही हैं, "उठो बेटा, मैं यहीं तो हूँ! अहा, कितना कष्ट उठाकर पैदल चलकर आये हो!" मैं उठ बैठा। मेरी आँखें आँसुओं से धुँधली हो गयी थीं। सामने माँ बैठी हुई थीं – स्वप्न में देखी हुई वही मातृमूर्ति! माँ स्नेहपूर्वक मुस्कुराती हुई बोली, "क्यों बेटा, स्वप्न में जो देखा था, उससे मिल रहा है या नहीं? अब मैं तुम्हें दीक्षा दूँगी।" आसन बिछा था। उसे दिखाकर बोलीं, "यहाँ बैठो।" दीक्षा हो गयी। फिर बोलीं, "तुम जो कमल के फूल लाये थे, वे कहाँ हैं? मैंने कहा, "ब्रह्मचारी महाराज को दिया है।" माँ ने उन्हें बुलाकर फूल लाने को कहा। ले आने पर माँ ठाकुर को दिखाकर बोली, "उनके चरणों में अंजली दो। वे ही तुम्हारे इष्ट हैं और वे ही तुम्हारे गुरु हैं।" मैंने सोचा था – माँ के चरणों में चढ़ाऊँगा। अन्तर्यामिनी माँ ने मेरे मन की बात जानकर तत्क्षण कहा, "पहले ठाकुर के चरणों में दो, बाद में मेरे चरणों में देना।" मैंने वैसा ही किया। मानो यंत्र जैसा सब कर रहा था। माँ के चरणों में फूल चढ़ाकर प्रणाम करके उठते ही मैंने कहा, 'जैसा दिखा दिया है, वैसे ही अब थोड़ी देर जप-ध्यान करो।" कुछ देर बाद मैंने जो स्वप्न देखा था, माँ ने उसका विवरण सुनाने को कहा। फिर (स्वयं को दिखाकर) बोलीं, "इस शरीर के रहते किसी से भी ये बातें नहीं कहोगे।"

माँ की बातें इतनी मधुर थीं कि अब भी उनका वह मधुर स्वर कानों में बज रहा है। बाद में जब मैं माँ का दर्शन करने जयरामबाटी गया, तब साथ मेरी पत्नी (प्रभावती) भी थी। वहाँ माँ से अपनी पत्नी की दीक्षा की बात उठाने पर माँ बोलीं, "बेटा उसे दीक्षा नहीं दूँगी। उसके गुरु शरत् हैं। कलकत्ता जाकर शरत् महाराज से कहो।" मैंने कलकत्ता जाकर शरत् महाराज से कहा था। सुनकर वे चुप रहे। वैसे बाद में उन्होंने उसे दीक्षा दी थी। ❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द की बोधगया-यात्रा (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

काशीपुर के उद्यान-भवन में – अनुपस्थिति के दौरान – ठाकुर की बातें

मार्च के अन्तिम सप्ताह में तीन गुरुभाई बिना किसी को कुछ बताये, बोधगया चले गये। अगले दिन काशीपुर के उद्यान-भवन में रहनेवाले गुरुभाइयों को जब इस बात का पता चला और उनके मन में इसकी जो प्रतिक्रिया हुई, उस विषय में स्वामी सारदानन्द लिखते हैं, "बाद में यह समाचार मिला कि वे गैरिक वस्त्र धारण कर बुद्धगया चले गये हैं। हम लोगों का चित्त उस समय स्वामीजी (नरेन्द्रनाथ) के प्रति इतना आकृष्ट हो चुका था कि एक क्षण भी उनको छोड़कर रहना हमारे लिए अत्यन्त कष्टप्रद था; अत: मन व्यग्र हो उठा और हममें से कई लोगों की निरन्तर स्वामीजी के पासे जाने की इच्छा होने लगी। क्रमश: यह बात श्रीरामकृष्ण के कान तक पहुँची। किसी व्यक्ति का इस प्रकार का संकल्प विदित होने पर ब्रह्मानन्दजी ने तो एक दिन श्रीरामकृष्ण से इसकी चर्चा भी कर डाली। यह सुनकर वे बोले, "चिन्ता क्यों कर रहा है? वह (नरेन्द्र) कहाँ जायेगा? कितने दिन बाहर रह सकेगा? देख तो सही; शीघ्र ही वह आ जायेगा।" इसके बाद वे हँसते हुए बोल उठे, "चारों दिशाओं में चक्कर लगा आओ, अपने आप पता चल जायेगा कि कहीं भी कुछ (यथार्थ धर्म) नहीं है, जो कुछ है, वह यहीं (अपने शरीर को दिखाकर) है !" "यहीं" शब्द का प्रयोग सम्भवत: श्रीरामकृष्ण ने दो भाव से किया होगा, यथा – उनके अपने भीतर धर्मभाव तथा ईश्वरीय भाव का उस समय जो विशेष प्रकाश था, वैसा और कहीं नहीं था या प्रत्येक के भीतर ही ईश्वर विद्यमान हैं; अपने भीतर विराजित उन ईश्वर के प्रति अपने भक्ति-प्रेम के भाव को उद्दीपित किये बिना बाहर विभिन्न स्थानों में भ्रमण करने से कुछ भी लाभ नहीं होता। श्रीरामकृष्ण की अनेक उक्तियों में से इसी तरह दो या उससे भी अधिक भाव मिलते हैं। केवल श्रीरामकृष्णदेव ही क्यों? विभिन्न युगों में जितने अवतारों ने इस संसार में जन्म लिया है, उन सभी के कथन में इस प्रकार के अनेक भाव मिलते हैं और साधारण लोग अपनी रुचि तथा संस्कार के अनुसार उस कथन का अर्थ निकाल लेते हैं। जिनको सम्बोधित कर श्रीरामकृष्ण ने ये बातें कही थीं, उन्हें तो पहले अर्थ का ही बोध हुआ और श्रीरामकृष्ण के भीतर ईश्वरीय भाव का जैसा प्रकाश है, वैसा और कहीं भी नहीं है, यह दृढ़ धारणा कर निश्चिन्त भाव से वे उनके समीप रहने लगे।"[४२]

स्वामीजी विवेकानन्द के परिवार के लोग उनके पिता के निधन तथा उनके स्वयं की विरक्ति के कारण बड़ी कठिनाई का जीवन बिता रहे थे। उनके छोटे भाई महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं, "नरेन्द्रनाथ की माता यह सुनकर बड़ी उद्विग्न हुईं कि वह गयाधाम चला गया है, चिमटा लेकर संन्यासी बना है। वे रामचन्द्र दत्त के पिता नृसिंह दत्त को साथ लेकर एक भाड़े की गाड़ी लेकर काशीपुर के उद्यान-भवन में जाकर श्रीरामकृष्ण से मिलीं। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें सांत्वना देते हुए आश्वस्त किया कि वह फिर लौट आयेगा।"[४३]

शिवानन्दजी ने लिखा है, "लौटने पर सुनने में आया कि ठाकुर को बिना बताये ही स्वामीजी के कहीं चले जाने पर वे बड़े अधीर हुए थे और संन्यासी भ्रातागण भी अतीव चिन्तित हो गये थे। सबने जब ठाकुर को अपनी मनोवेदना सुनायी, तो उन्होंने कहा था, "मस्तूल का पक्षी जैसे उड़-उड़कर पुन: मस्तूल पर ही आकर बैठता है, वैसे ही नरेन्द्र भी घूम-फिरकर शीघ्र यहीं आएगा। तुम लोग चिन्ता मत करो।"[४४]

श्रीरामकृष्ण ने जब नरेन्द्र के अज्ञात स्थान में जाने की बात सुनी, तो वे मौन भाव से मुस्कुरा दिये। कुछ देर बाद वे बोले, "वह कहीं भी नहीं जायेगा, उसे यहीं आना होगा।" इस प्रसंग में उन्होंने एक कहानी सुनायी, "देखो, एक मोर एक व्यक्ति के बगीचे में रोज आता था। वह व्यक्ति मोर को रोज थोड़ा अफीम मिलाकर दाने देता था। कुछ दिनों में ही मोर की ऐसी आदत हो गयी कि वह बगीचे में आए बिना रह नहीं पाता था। नरेन की भी यही अवस्था समझो। इधर-उधर जाता जरूर है, पर यहाँ जो रस मिला है, उसे छोड़कर कहाँ जायेगा?" कुछ दिनों के बाद भी जब वे लोग नहीं लौटे, तो सबकी चिन्ता काफी बढ़ गयी, पर श्रीरामकृष्ण ने जमीन पर एक वृत्त बनाकर कहा, "इससे अधिक उन लोगों की जाने की क्षमता नहीं है।" बाद में उन लोगों के लौट आने पर उन्होंने अपनी एक अंगुली चारों ओर घुमाकर हँसी करते हुए कहा, "इस बार सब कुछ यहीं है; और जहाँ कहीं भी जाओ, कहीं कुछ नहीं मिलेगा। यहाँ के सारे द्वार खुले हैं।"[४५]

उद्यान-भवन में लौटने के बाद
९ अप्रैल १८८६ (अनुमानित)

वे लोग काशीपुर के उद्यान में पहुँचकर गुरुदेव के चरणों में प्रणत हुए। गुरुदेव के आनन्द की सीमा न रही। अन्य गुरुभाई भी आनन्द-विभोर होकर नृत्य करते हुए हरि-संकीर्तन

४२. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ६२१-२२

४३. विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, ७म सं. २००७, खण्ड १, पृ. २२; **४४.** विवेक-ज्योति, वर्ष १९९२, अंक १, पृ. ६८; **४५.** युगनायक विवेकानन्द, गम्भीरानन्द, भाग १, पृ. १६४

करने लगे।''[४६] स्वामी अभेदानन्द लिखते हैं, ''श्रीरामकृष्ण हम लोगों के लिये विशेष चिन्तित थे और लौटकर आया हुआ देखकर महा आनन्द तथा आग्रह के साथ सारी बातें पूछने लगे। हम लोगों ने यथाक्रम बोधगया की सारे बातें उन्हें बतायीं। सब कुछ सुनकर वे बड़े सन्तुष्ट हुए और प्रशान्त भाव से बोले, 'अच्छा किया।' ''[४७]

९ अप्रैल को बोधगया से लौटने के बाद[४८] रात के समय काशीपुर के उद्यान-भवन में जो चर्चा हुई, उसका श्रीम ने बड़े विस्तार के साथ विवरण लिखा है। इसमें श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के बुद्ध के विषय में बहुत से विचारों को भी अभिव्यक्ति मिली है। विवरण इस प्रकार है –

आज शुक्रवार, शाम के पाँच बजे का समय होगा, चैत की शुक्ल पंचमी है, ९ अप्रैल, १८८६। नरेन्द्र, काली, निरंजन और मास्टर नीचे बैठे हुए बातचीत कर रहे हैं। नरेन्द्र बुद्ध-गया से अभी ही लौटे हैं। वहाँ वे बुद्ध की मूर्ति के दर्शन कर उसके सामने गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये थे। जिस पेड़ के नीचे तपस्या करके बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था, उस पेड़ की जगह एक दूसरा पेड़ उगा है, इसे भी उन्होंने देखा है।... श्रीरामकृष्ण बड़े कमरे में बिस्तरे पर बैठे हुए हैं। सन्ध्या का समय है। मणि अकेले पंखा झल रहे हैं। लाटू भी वहीं आकर बैठे।... नरेन्द्र भी आकर बैठे। शशि, राखाल तथा दो-एक भक्त और आये। श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र से पैरों पर हाथ फेरने के लिए कह रहे हैं। इशारे से श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र से पूछा – तूने कुछ खाया?

श्रीरामकृष्ण – (मास्टर से, सहास्य) – यह वहाँ (बुद्ध-गया) गया था।

मास्टर (नरेन्द्र से) – बुद्धदेव का क्या मत है?

नरेन्द्र – तपस्या करके उन्होंने जो कुछ पाया था, वह मुख से नहीं कह सके। इसीलिए सब लोग उन्हें नास्तिक कहते हैं।

श्रीरामकृष्ण – (इशारा करके) – नास्तिक क्यों, नास्तिक नहीं। मुख से अपनी अवस्था का हाल वे नहीं कह सके। बुद्ध क्या है, जानते हो? बोधस्वरूप की चिन्ता करके वही हो जाना – बोधस्वरूप बन जाना।

नरेन्द्र – जी हाँ, इनके तीन दर्जे है, बुद्ध, अर्हत् और बोधिसत्त्व।

श्रीरामकृष्ण – यह उन्हीं की क्रीड़ा है, एक नयी लीला। नास्तिक वे क्यों होने लगे? जहाँ स्वरूप का बोध होता है, वहाँ अस्ति और नास्ति की बीचवाली अवस्था है।... ये 'अस्ति' और 'नास्ति' प्रकृति के गुण हैं। जहाँ यथार्थ बोध है, वह 'अस्ति' और 'नास्ति' से परे की अवस्था है।... (नरेन्द्र से) – उनका (बुद्ध का) क्या मत है?

नरेन्द्र – ईश्वर है या नहीं, ये बातें बुद्ध नहीं कहते थे। पर वे दया लेकर थे। एक बाज एक पक्षी को पकड़कर खाना चाहता था। बुद्ध ने उस पक्षी के प्राणों को बचाने के लिए अपने शरीर का माँस काटकर बाज को खिला दिया था।

श्रीरामकृष्ण चुप हैं। नरेन्द्र उत्साह के साथ बुद्ध की और और बातें कह रहे हैं।

नरेन्द्र – उन्हें वैराग्य भी कितना था! राजपुत्र होकर भी उन्होंने सर्वस्व का त्याग किया! जिनके पास कुछ नहीं है, कोई ऐश्वर्य नहीं है, वे और क्या त्याग करेंगे? जब बुद्ध होकर, निर्वाण प्राप्त करके एक बार वे घर आये, तब उन्होंने अपनी स्त्री को, पुत्र को और राजवंश के बहुत-से लोगों को वैराग्य धारण करने के लिए कहा। कैसा तीव्र वैराग्य था! परन्तु व्यास को देखो। उन्होंने अपने पुत्र शुकदेव को संसार-त्याग करने से मना किया और कहा – 'वत्स, गृहस्थ बने रहकर ही धर्म का पालन करो।'

श्रीरामकृष्ण चुप रहे, अब तक उन्होंने एक शब्द भी न कहा।

नरेन्द्र – बुद्ध ने शक्ति अथवा अन्य किसी उस प्रकार की चीज की कभी परवाह नहीं की। वे तो केवल निर्वाण के ही इच्छुक थे। कैसा तीव्र उनका वैराग्य था! जब वे बोधि-वृक्ष के नीचे तपस्या करने के लिए बैठे तो कहा, 'इहैव शुष्यतु मे शरीरम्।' – अर्थात् अगर निर्वाण की प्राप्ति मैं न कर सकूँ तो मेरा शरीर यहीं शुष्क हो जाय – ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा! ...

कुछ देर बाद श्रीरामकृष्ण फिर वार्तालाप करने लगे। उन्होंने इशारे से फिर बुद्धदेव की बात पूछी।

श्रीरामकृष्ण – बुद्धदेव के सिर में क्या बड़े बड़े बाल थे?

नरेन्द्र – जी नहीं। बहुत-सी रुद्राक्षों की मालाएँ एकत्र करने पर जैसा होता है, मालूम होता है, उनके सिर में वैसे ही बाल थे।

श्रीरामकृष्ण – और आँखें?

नरेन्द्र – आँखें समाधिलीन।

श्रीरामकृष्ण चुप हैं। नरेन्द्र तथा अन्य भक्त उन्हें एकदृष्टि से देख रहे हैं। एकाएक जरा मुस्कराकर वे फिर नरेन्द्र से बातचीत करने लगे। मणि पंखा झल रहे हैं।...[४९]

स्वामी अद्भुतानन्द इसके बाद की अन्य दिन की घटना बताते हैं, ''एक दिन तो कालीभाई (अभेदानन्द) ने ठाकुर से

४६. बुद्धगयाय विवेकानन्द (बँगला), प्रियनाथ सिन्हा, पृ. ४७६-७
४७. आमार जीवन कथा (बँगला), सं. २००१, पृ. १००-१
४८. स्वामी प्रभानन्दजी बताते हैं, 'आठ तारीख की शाम को वे तीनों काशीपुर के बगीचे में आ पहुँचे थे'। (अन्त्यलीला, प्र.सं. पृ. ३७७)
४९. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, पृ. ११३९-४१

बुद्धदेव के बारे में प्रश्न किया। उन दिनों कालीभाई के मन में ऐसी धारणा थी कि बुद्धदेव ईश्वर नहीं मानते थे। उसी बात को लेकर एक दिन बड़ा तर्क हुआ। इस पर वे बोले, 'बुद्धदेव नास्तिक क्यों होंगे जी ! उन्होंने अपने स्वरूप को देखा था, वहाँ अस्ति-नास्ति के बीच की अवस्था है।' "[५०]

उपरोक्त घटना २२ अप्रैल (१८८६) या उसके दो-एक दिन पूर्व की है। 'वचनामृत' में उस दिन श्रीम राखाल से इस विषय में बातें कर रहे हैं, जिससे लगता है कि बुद्धदेव तब भी उनकी चर्चा का विषय बने हुए थे।

मास्टर – काली इस समय बुद्धदेव की चिन्ता करते हैं न; इसलिए आनन्द के उस पार की बातें कह रहे हैं।

राखाल – श्रीरामकृष्ण के पास भी बुद्धदेव की बातचीत काली ने उठायी थी। श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'बुद्धदेव अवतार-पुरुष हैं। उनके साथ किसी की क्या तुलना? बड़े घर की बड़ी बातें।' काली ने कहा, 'ईश्वर की शक्ति ही तो सब कुछ है। उसी शक्ति से ईश्वर का आनन्द मिलता है, और उसी से विषय का भी।'

मास्टर – फिर उन्होंने क्या कहा? राखाल – उन्होंने कहा 'यह कैसा? – सन्तानोत्पत्ति करने की शक्ति और ईश्वर-प्राप्ति की शक्ति – दोनों क्या एक है?'[५१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धगया से काशीपुर लौट आने के बाद भी बहुत दिनों तक उन लोगों में वहाँ की स्मृति तथा गहन ध्यान का भाव बना रहा। वे प्राय: दक्षिणेश्वर जाकर वहीं ध्यान में रात बिताया करते और कभी-कभी वहीं ठहर भी जाते थे।

* * *

बुद्धचरित्र में बोधगया-उरुबेला-प्रसंग

सिद्धार्थ गौतम प्रव्रज्या लेकर कपिलवस्तु से निकल आये और अनुपिया नामक कस्बे और राजगृह नगर में कुछ दिन बिताने के बाद आलार कलाम के मठ में गये। उनसे उन्होंने ध्यान-समाधि की प्रक्रिया सीखी, परन्तु इससे उन्हें समाधान नहीं मिला। इसके बाद वे उद्रक रामपुत्र के पास जाकर ध्यान-समापत्ति का अभ्यास किया, परन्तु उन्हें पूर्ण शान्ति नहीं मिली। इसके बाद वे अपने पाँच साधक साथियों के साथ विचरण करते हुए उरुबेला (वर्तमान बोधगया) नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने एक सुन्दर भूभाग में एक नदी (निरंजना)[५२] को बहते देखा, जिसका घाट बड़ा रमणीक था। चारों ओर कुछ गाँव भी थे। स्थान को देखकर उन्होंने संगी परिव्राजक उनके बुद्धत्व प्राप्ति की प्रतीक्षा करते हुए सोचा कि यह मेरी साधना के लिये उपयुक्त है। वहीं रहकर उन्होंने अपनी कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। उनके पाँचों छह वर्षों तक उनकी सेवा में लगे रहे। बोधिसत्त्व ने क्रमश: भोजन करना छोड़ दिया। अनाहार के कारण वे बड़े दुबले हो गये, रंग भी काला पड़ गया। एक दिन वे श्वासरहित प्राणायाम करते हुए दुर्बलता से पीड़ित हो बेहोश होकर गिर पड़े। उन्होंने सोचा कि इस अति कठोरता से बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने आसपास के गाँवों से भिक्षा लेकर आहार लेना आरम्भ कर दिया। इससे उनके पाँचों भिक्षु मित्रों की उन पर से श्रद्धा चली गयी। उन लोगों ने सोचा कि छह वर्षों की कठोर तपस्या के बाद भी जब ये बुद्धत्व नहीं पा सके, तो भिक्षान्न खाकर अब क्या बुद्ध होंगे? सिद्धार्थ को पथभ्रष्ट समझकर उन लोगों ने उनका साथ छोड़ दिया और वाराणसी के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) को चले गये।

उरुबेला के पास ही सेनानी नामक एक गाँव में सेनानी नाम का ही एक सम्पन्न गृहस्थ रहता था। उसकी सुजाता नाम की पुत्री ने वटवृक्ष-देवता को मनौती मानी थी। मनौती पूरी होने के बाद जब वह ससुराल से अपने घर लौटी, तो उसने उस वटवृक्ष की पूजा करने का संकल्प तथा आयोजन किया। वैशाख पूर्णिमा के दिन उसने गोदुग्ध का खीर बनाना आरम्भ किया और अपनी पूर्णा नामक दासी को वह स्थान स्वच्छ करने भेज दिया।

बोधिसत्त्व को कठोर तपस्या करते छह वर्ष बीत चुके थे। उस दिन प्रात:काल वे अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर भिक्षाकाल की प्रतीक्षा में उसी वृक्ष के नीचे बैठे थे। पूर्णा ने उन्हें देखकर समझा कि वृक्ष-देवता ही साकार रूप धारण करके पूजा ग्रहण करने हेतु बैठे हुए हैं। उससे यह सूचना पाकर सुजाता प्रसन्नता से खिल उठी। उसने खीर को एक थाल में सजाया और एक स्वर्णपात्र से ढककर कपड़े में बाँध लिया और उसे सिर पर रखकर वटवृक्ष की ओर चल पड़ी। बोधिसत्त्व को वृक्ष के नीचे बैठे वृक्षदेवता समझकर वह अत्यन्त सन्तुष्ट हुई और दूर से ही उनका अभिवादन करने के बाद उनके निकट जाकर खीर का पात्र सिर से उतारा। बोधिसत्त्व ने हाथ फैलाकर आचमन हेतु जल ग्रहण किया। सुजाता उन्हें पात्रसहित खीर अर्पण करते हुए बोली, "आर्य, यह मैंने आपको प्रदान किया। इसे ग्रहण करके यथारुचि पधारिये।" और कहा, "जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है, वैसे ही आपका भी पूर्ण हो।" इतना कहकर वह लौट गयी।

बोधिसत्त्व हाथ में थाल लिये उठकर निरंजना नदी के तट पर गये। वहाँ नदी में स्नान करने के बाद उन्होंने ४९ ग्रास खीर खाया। सोने की थाली को उन्होंने नदी में फेंक दिया।

---

५०. अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द, पृ. १६४; भक्तमालिका, १/३६२
५१. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, भाग २, पृ. ११६४; **५२.** निरंजना नदी का वर्तमान नाम 'नीलाजन नदी' है। यह बोधगया से थोड़ा ऊपर जाकर 'मोहना नदी' से मिलने के बाद 'फल्गु नदी' कहलाती है। (द्र. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, पृ. १३५)

कहते हैं कि इस पायसान्न का भोजन करते ही सिद्धार्थ को एक अद्‌भुत तेज, शक्ति तथा स्फूर्ति की प्राप्ति हुई। अगले सात सप्ताह उन्होंने अन्न नहीं ग्रहण किया।

दिन का समय शालवन में बिताने के बाद शाम को वे वटवृक्ष के पास गये। वहाँ सामने से श्रोत्रिय नामक एक घसियारा चला आ रहा था। उसने उन्हें आठ मुट्ठी घास दी। बोधिसत्त्व ने उसके अग्रभाग को पकड़कर वृक्ष के नीचे हिलाया, तो एक आसन जैसा बन गया। पूर्व की ओर मुख करके वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने संकल्प किया, "यही दु:ख-पंजर के विध्वंश का स्थान है। भले ही मेरी त्वचा, नसें, हड्डियाँ नष्ट क्यों न हो जायँ, मांस-रक्त सूख क्यों न जायँ, परन्तु मैं सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।" इसी स्थान को बौद्ध साहित्य में 'वज्रासन' कहकर इसकी बड़ी महिमा बतायी गयी है।

कहते हैं कि इसके बाद 'मार' अपनी सेना सहित उनके पास आया और उन्हें तरह-तरह के भय तथा प्रलोभन दिखाने लगा, परन्तु बोधिसत्त्व अपनी प्रज्ञा-पारमिताओं को ही अस्त्र बनाकर उसका सामना करते रहे। उनकी मार पर विजय होते ही देवताओं ने उन पर पुष्पवृष्टि की।

इसके बाद बोधिसत्त्व ने समाधि प्राप्ति के लिये अपने चित्त को एकाग्र किया। वे सारी रात ध्यान करते रहे और उनके चित्त में विभिन्न विद्याओं का उन्मेष होता रहा। रात का अन्तिम प्रहर बीत जाने के बाद अरुणोदय के समय उन्हें बुद्धत्व की उपलब्धि हो गयी। अब वे भगवान बुद्ध हो चुके थे। इसके बाद ही उनके मुख से ये वाक्य फूट पड़े – "बिना रुके मैं अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा। इस (काया रूपी) गृह को बनानेवाली (तृष्णा) के पीछे लगकर बारम्बार दुखमय जन्मों में पड़ता रहा। हे गृहकर्त्री तृष्णे, मैंने तुझे देख लिया है, अब तू फिर घर नहीं बना सकेगी। तेरी सारी कड़ियाँ भग्न हो गयी हैं, गृह का शिखर गिर चुका है। चित्त संस्कार-रहित हो गया है। मुझे अर्हत्व प्राप्त हो गया है।"

सम्बोधि की प्राप्ति के उपरान्त भगवान बुद्ध सप्ताह भर उसी पवित्र बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर मोक्ष-ज्ञान का आनन्द लेते रहे। उरुवेला के विभिन्न स्थानों में बैठकर विमुक्ति का आनन्द लेते हुए उन्होंने वहीं सात सप्ताह बिता दिये। इस दौरान उन्होंने न तो शरीर का नित्यकर्म किया, न भोजन।

इसके बाद वे अजपाल नामक वटवृक्ष के नीचे गये और एकान्त में बैठकर विचार करने लगे, "मैंने गम्भीर, बड़ी कठिनाई से जानने योग्य, केवल तर्क द्वारा अप्राप्य, उत्तम धर्म को पा लिया है। ये संसारी लोग कामनाओं-वासनाओं में अनुरक्त हैं। इनके लिये प्रतीत्य समुत्पाद को समझना कठिन है। सभी संस्कारों के समाप्त हो जाने पर तृष्णा-क्षय से प्राप्त जो निर्वाण है, उसकी उपलब्धि भी इनके लिये कठिन है। यदि मैं उपदेश करूँ और ये उसे न समझ सकें, तो यह मेरे लिये कष्ट मात्र ही होगा।" उनकी धर्मोपदेश देने में अनिच्छा जानकर ब्रह्मा ने विचार किया, "यदि तथागत अर्हत् बुद्धदेव का चित्त धर्मप्रचार की ओर न झुका, तो लोक का नाश हो जायगा।" अत: वे भगवान बुद्ध के समक्ष प्रकट हुए और दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "भन्ते, भगवन्, आप धर्मोपदेश करें। अल्प मलवाले प्राणी भी हैं। धर्म न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे। आप उपदेश करें। धर्म को सुननेवाले भी होंगे।"[५२]

भगवान ने ब्रह्मा की बात सुनने के बाद प्राणियों के प्रति करुणा से द्रवित होकर अपनी बुद्ध-दृष्टि से समस्त लोगों की ओर देखा। उन्हें अल्प मल, मेधावी, सत्-स्वभाव, सुबोध्य प्राणी भी दिखाई दिये; जो बुराइयों तथा परलोक से डरनेवाले थे। उन्होंने ब्रह्मा से कहा, "मैं उपदेश करूँगा। अमृत का द्वार सबके लिये खुला है।" उन्होंने सोचा – सबसे पहले मैं किसे उपदेश दूँ? कौन इसकी शीघ्र धारणा कर सकेगा? उन्हें याद आया कि साधना के दौरान उन पाँच भिक्षुओं ने मेरी बड़ी सेवा की थी, क्यों न उन्हीं को सबसे पहले उपदेश दूँ! उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा कि वे लोग वाराणसी के पास ऋषिपत्तन (सारनाथ) में विचरण कर रहे हैं। वे उरुबेला (बोधगया) से वाराणसी की ओर चल पड़े।

सारनाथ में उन पंचवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें दूर से आते देखा। उन्हें पहले से ही शंका थी कि ये साधना-भ्रष्ट हो चुके हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों वे उन लोगों के निकट पहुँचे, उन लोगों के विचारों में परिवर्तन आता गया। उनके साथ दो-चार बातें करते ही उनकी शंका श्रद्धा में परिणत हो चुकी थी। तथागत बुद्ध ने उन्हें चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग का उपदेश देकर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया। वर्षा के तीन महीने वहीं बिताने के बाद भगवान ने उन लोगों से कहा, "भिक्षुओ, जितने भी स्वर्गीय तथा सांसारिक बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ, तुम भी मुक्त हो। भिक्षुओ, बहुजन के हितार्थ, बहुजन के सुखार्थ लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के उद्देश्य सिद्धि के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो।... सभी अवस्थाओं में कल्याणकारी धर्म का उपदेश करके परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

इसके बाद वे उरुबेला और गया होते हुए राजगृह गये। वहाँ उन्होंने राजा बिम्बिसार को उपदेश दिया। वहीं सारिपुत्र, मौद्गल्यायन तथा महाकाश्यप ने भी उनसे प्रव्रज्या ली। इसके बाद उन्होंने कपिलवस्तु, मल्ल देश तथा श्रावस्ती आदि की यात्रा की ४५ वर्षों तक असंख्य लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। उनका यह अभियान विश्व-इतिहास पर चिरकाल के लिये एक अमिट छाप छोड़ गया। ❖ **(क्रमशः)** ❖

५२. भगवान गौतम बुद्ध, डॉ. विद्यावती 'मालविका', हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्र.सं. १९६६, पृ. २५-२७

स्वामी बोधानन्द (३)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

बोधानन्द को कुछ समय तक तत्कालीन मठाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी की सेवा करने का सुयोग भी प्राप्त हुआ था। यह १९०५ ई. की बात है। ब्रह्मानन्द महाराज का शरीर उस समय भयानक टायफायड रोग से ग्रस्त था। बोधानन्द ने उस समय जी-जान से महाराज की सेवा में मनोनियोग किया था। इसके बाद उसी साल के अन्त में वे हिमालय के कुछ तीर्थों की यात्रा करने के बाद दक्षिण-भारत का भ्रमण कर रहे थे। कुछ दिन मद्रास के मठ में निवास करने के बाद संघ के संचालकों के निर्देश पर उन्होंने बैंगलोर आश्रम का कार्यभार ग्रहण किया। वैसे उन्हें मात्र कुछ महीनों के लिये ही वह उत्तरदायित्व सौंपा गया था, क्योंकि १९०६ ई. के प्रारम्भ में ही उन्हें अन्यत्र और भी महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारी सँभालने के लिये स्वयं को प्रस्तुत करना था। बैंगलोर-निवास के समय उनकी शास्त्र-व्याख्या तथा धर्म-प्रचार में कुशलता ने वहाँ सभी लोगों को मुग्ध कर लिया था। परन्तु उसी समय अमेरिका के न्यूयार्क नगर में स्वामी अभेदानन्द को एक सहकारी की आवश्यकता होने पर संघनायक ब्रह्मानन्दजी ने बोधानन्द को ही उस कार्य लिये मनोनीत किया। तब वे बैंगलोर से बेलूड़ मठ लौट आये और ११ अप्रैल को उन्होंने बम्बई की यात्रा की। वहाँ से १५ अप्रैल को जलयान से यात्रा करके मई के अन्त में वे न्यूयार्क जा पहुँचे। वहाँ पर आठ महीनों तक उन्होंने प्रचार-कार्य में अभेदानन्दजी की विभिन्न प्रकार से सहायता की। यहाँ पर यह स्मरण दिलाना अप्रासंगिक नहीं होगा कि १९०३ ई. के ७ मई से बोधानन्द को मठ तथा मिशन का एक ट्रस्टी तथा संचालन-समिति का एक सदस्य मनोनीत किया गया था। अस्तु, १९०७ ई. की जनवरी में उन्हें वहाँ के पिट्सबर्ग नगर में वेदान्त-प्रचार हेतु भेजा गया और वहाँ उन्होंने बड़ी सफलता के साथ वह कार्य सम्पन्न किया। १९१२ ई. में स्वामी अभेदानन्द द्वारा न्यूयार्क की वेदान्त-समिति का कार्य-भार त्याग कर देने के बाद संघ के संचालकों ने उन्हीं को उस केन्द्र का उत्तरदायित्व ग्रहण करने का निर्देश दिया। इसके फलस्वरूप पिट्सबर्ग का केन्द्र बन्द कर देना पड़ा। यहाँ स्मरणीय है कि न्यूयार्क का वेदान्त-केन्द्र १८९६ ई. की फरवरी में स्वयं स्वामी विवेकानन्दजी की प्रेरणा तथा आशीर्वाद के साथ स्थापित हुआ था। इसी कारण गुरुदेव की पुण्य स्मृतियों से जुड़े इस आश्रम का कार्यभार बोधानन्द के लिये एक महान् तथा पवित्र उत्तरदायित्व के समान था। इसीलिये वे अपने जीवन के अन्तिम दिन तक अपने हाथ में अर्पित इस पताका को एक दक्ष सैनिक के समान परम श्रद्धा के साथ वहन करते रहे।

अमेरिका में वेदान्त-प्रचार के इतिहास में बोधानन्द का एक अपना वैशिष्ट्य रहा है। पश्चिम की सामाजिक व्यवस्था के बीच रहकर भी वे सर्वदा भारतीय संन्यास-जीवन की कठोर आचार-संहिता का अक्षरश: पालन करने की चेष्टा में लगे रहते थे। तथाकथित प्रगतिशील समाज में रहकर भी वे निरर्थक व्यावहारिकता को प्रश्रय न देकर और महिलाओं से मिलने-जुलने में सर्वदा भारतीय रीति-नीति के अनुसार चलना, उन्हीं के समान नीतिनिष्ठ संन्यासी के लिये सम्भव था। अमेरिका का इहलोक को ही सब कुछ माननेवाला परिवेश, बोधानन्द की जीवन-धारा को कभी तिल मात्र भी विचलित करने में समर्थ नहीं हुआ। सुनने में आता है कि भारतवर्ष में जब किसी ने, अमेरिका में उनकी असाधारण सफलता के कारण के विषय में पूछा, तो उन्होंने हँसते हुए कहा था, ''पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध से विमोहित न होकर विशुद्ध संन्यास-जीवन बिताना ही सफलता का वास्तविक रहस्य है।''

न्यूयार्क के वेदान्त-समिति का वर्तमान स्थायी भवन बोधानन्द की ही अदम्य कर्मशक्ति का साक्षी है। उनके समय में समिति का अपना कोई भवन न होने के कारण किराये के स्थान में कार्य चलाया जाता था। बोधानन्द की ही अथक चेष्टा से १९२५ ई. में वर्तमान भवन को समिति के लिये खरीदना सम्भव हो सका था। अब तक वहीं पर वेदान्त-समिति का कार्य संचालित हो रहा है। यही अमेरिका का सबसे पुराना वेदान्त-केन्द्र है।

बोधानन्द के सरल तथा साधनामय जीवन, स्वाध्याय और वेदान्त-ज्ञान तथा वक्तृत्व-शक्ति ने अमेरिका के नर-नारियों को बड़े स्वाभाविक रूप से भारतीय आदर्श की ओर आकृष्ट कर लिया था। उनके निकट के किसी भी व्यक्ति के लिये उनके जीवन से प्रभावित हुए बिना रह पाना असम्भव था। फलत:, जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, वह सदा-सर्वदा के लिये उनका अनुगामी हो गया। व्याख्यान,

साधन-भजन की शिक्षा देना तथा वेदान्त के अध्यापन के अतिरिक्त, अमेरिका के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते हुए धर्मप्रचार करना भी उनकी नियमित कार्यसूची में शामिल था। इस प्रकार बहुविध कार्यों में लगे रहने के बावजूद वे अपने व्यक्तिगत साधन-भजन तथा स्वाध्याय आदि में जरा भी ढील नहीं देते थे। 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' तथा 'श्रीरामकृष्ण -लीला-प्रसंग' उनके नियमित पाठ के ग्रन्थ थे। समय की पाबन्दी बोधानन्द के जीवन का एक अद्‌भुत वैशिष्ट्य था। यदि कोई उनके आत्मसंयम तथा पौरुष के कठोर बाह्य आवरण को खिसकाकर उनके खूब निकट जा पाता, तो देख पाता कि इन आदर्शनिष्ठ संन्यासी का हृदय कितना कोमल तथा ममत्वपूर्ण है। किसी के भी साथ भगवच्चर्चा को छोड़ किसी भी प्रकार की लौकिक चर्चा उन्हें बिल्कुल भी पसन्द न थी। वे अपने सहकारी संन्यासियों को भी इसी प्रकार चलने का निर्देश दिया करते थे।

१९२३ ई. के अक्तूबर में न्यूयार्क से यात्रा करके १० दिसम्बर को उन्होंने एक बार फिर बम्बई में भारतभूमि का स्पर्श किया। स्वामी बोधानन्द को देखकर सबने विस्मयपूर्वक इस बात की उपलब्धि की कि सुदीर्घ सोलह वर्ष से भी अधिक काल तक निरन्तर अमेरिका में निवास करने के बाद भी, एक आदर्श भारतीय संन्यासी किस प्रकार अपनी सरल जीवन-चर्या को अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। बम्बई के नागरिकों की ओर से वहाँ के कावासजी जहाँगीर सभागार में उनका भव्य अभिनन्दन किया गया। २० दिसम्बर को वे बेलूड़ मठ आ पहुँचे। मठ के साधु-ब्रह्मचारी-गण काफी काल बाद उन्हें एक बार फिर अपने बीच पाकर परम आनन्दित हुए। अपने गुरुदेव के स्मृति-तीर्थ रूपी इस पुण्य स्थान में आकर उन्होंने भी असीम उद्दीपना का अनुभव किया था। महापुरुष शिवानन्दजी उस समय मठ के अध्यक्ष थे।

२० जनवरी (१९२४) को कलकत्ते के लोगों ने युनिवर्सिटी इंस्टीच्यूट में एक कार्यक्रम का आयोजन करके उन्हें एक अभिनन्दन-पत्र अर्पित किया। उस दिन विशिष्ट वक्ताओं ने नागरिकों की ओर से, विदेशों में वेदान्त-प्रचार की उनकी असाधारण सफलता के लिये उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्हें अभिनन्दित किया था। कलकत्ता-वासियों की प्रीति की स्मृति के रूप में उन्हें उपहार के रूप में एक चाँदी से मढ़ा हुआ कमण्डलु तथा मानपत्र प्रदान किया गया था। स्वामी बोधानन्द ने अत्यन्त सहज-सरल भाषा में इस अभिनन्दन का एक सारगर्भित उत्तर दिया था। उनके प्रिय गुरुभ्राता शुद्धानन्द तब वाराणसी में थे। इस कार्यक्रम का समाचार पाकर ठीक उसी दिनांक के एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "आज स्वामी बोधानन्द का अभिनन्दन होगा, यह जानकर विशेष खुशी हुई। आशा करता हूँ कि यह खूब अच्छी तरह सम्पन्न होगा और इस अभिनन्दन के फलस्वरूप सर्व-साधारण लोगों के मन में, क्षण काल के लिये ही सही, ठाकुर तथा उनके उपदेशों की बात उदित होगी।"

उनके मठ में निवास के दौरान उनके पास धर्मसभाओं में भाग लेने के लिये बहुत-से निमंत्रण आते। इन सभाओं में योगदान करने के फलस्वरूप इस देश में भी उन्हें व्याख्यान आदि कार्यों से छुट्टी नहीं मिल पाती थी। उसी वर्ष स्वामीजी के आविर्भाव-दिवस पर – २८ जनवरी १९२४ को बेलूड़ मठ में विवेकानन्द-मन्दिर की स्थापना का कार्य भी सम्पन्न हुआ। इस उपलक्ष्य में मठ में जो विराट् जनसभा हुई, उसमें भी उन्होंने स्वामीजी के जीवन तथा सन्देश पर एक बड़ा ही ओजस्वी व्याख्यान दिया था। इस सभा में बालकों तथा तरुणों ने स्वामीजी की 'वीरवाणी' पुस्तक से उनकी कविताओं की आवृत्ति करके स्वामी बोधानन्दजी के हाथों से पुरस्कार तथा पदक आदि प्राप्त किया था। १९२४ ई. के मार्च तक वे बंगाल के विभिन्न स्थानों और तदुपरान्त क्रमशः पटना तथा वाराणसी में स्वामीजी के भावों तथा सन्देश का प्रचार करते हुए भ्रमण किया था। सुदूर रंगून से आये निमंत्रण को भी वे अस्वीकार नहीं कर सके और वहाँ भी जाकर विभिन्न सभा-समितियों में व्याख्यान, धर्मचर्चा आदि करके लोगों के चित्त में स्वामीजी के भावों की अलख जगायी थी। ८ अप्रैल को उन्होंने महापुरुष महाराज के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की। मद्रास मठ में एक माह से भी अधिक काल तक रहकर उन्होंने मठ तथा नगर के विभिन्न स्थानों पर वेदान्त-विषयक कई सारगर्भित व्याख्यान दिये थे। तदुपरान्त बैंगलोर जाकर भी उन्होंने वहाँ एक माह से भी अधिक काल बिताया था। वहाँ पर भी उन्होंने हर रविवार को आश्रम में धर्मचर्चा की थी और नगर की कुछ संस्थाओं में व्याख्यान भी दिये थे। बैंगलोर में एक भव्य अनुष्ठान के द्वारा जनता की ओर से उनका अभिनन्दन किया गया था। २९ जून को वे पुनः मद्रास लौट आये। कुछ दिनों बाद ही उन्होंने वहाँ से बम्बई की यात्रा की और १५ जुलाई को समुद्र-मार्ग से पुनः अमेरिका के लिये चल पड़े। इस बार यूरोप के इटली, स्विटजरलैंड तथा फ्रांस भी उनकी यात्रा-सूची में शामिल थे। स्वामी बोधानन्द की भारत से यही अन्तिम विदाई थी। उनके लिये जन्मभूमि का पुनः दर्शन सम्भव नहीं हो सका था। इसी समय से लेकर अपने जीवन के अन्त तक वे लगातार अमेरिका में वेदान्त-प्रचार के कार्य में निरत रहे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोधानन्द के समान वैराग्यवान तथा नियमनिष्ठ संन्यासी के सम्पर्क में आकर न्यूयार्क के नर-नारियों ने अध्यात्म-पथ के लिये यथेष्ट पाथेय एकत्र कर लिया था। उनके द्वारा प्रदत्त व्याख्यानमाला पश्चिम के शान्तिकामी व्यक्तियों के लिये सचमुच ही अमृत-सन्देश के

समान था। वेदान्त-समिति के अनुरागियों के प्रयासों से उक्त समिति के द्वारा उनके कुछ स्मरणीय व्याख्यान Lectures on Vedanta Philosophy (वेदान्त-दर्शन पर व्याख्यान) नाम से एक विशद ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुए हैं। 'वेदान्त-दर्पण' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी कुछ काल तक बोधानन्द के निर्देशन में चली थी। उसमें भी कभी-कभी उनके विद्वतापूर्ण व्याख्यान प्रकाशित हुआ करते थे।

श्री गुरु द्वारा आरम्भ किये हुए वेदान्त-प्रचार के महान् कार्यभार को एक पवित्र व्रत मानकर बोधानन्द अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक प्रसन्नचित्त से उसका परिचालन कर गये हैं। वार्धक्य या अन्य कोई भी शारीरिक बाधा उन्हें उनके इस पवित्र व्रत के पालन करने में तिल मात्र भी निरुत्साहित नहीं कर सकी। लगता है कि गुरु विवेकानन्द के आकाश के समान उदार और समुद्र के समान गहन हृदय के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने के फलस्वरूप ही शिष्य के जीवन में भी सर्वदा मानव-प्रेम की धारा तरंगायित होती रही। इसीलिये बोधानन्द स्वयं भी कहा करते थे, "स्वामीजी वास्तविक पुरुषोत्तम थे। उनके प्रगाढ़ मानव-प्रेम का वर्णन करना असम्भव है। उनका उदार मानव-प्रेमी हृदय ने ही मुझे चिरकाल के लिये आकृष्ट तथा आबद्ध कर लिया था।"

इसी काल में अमेरिका से लिखित उनके एक पत्र का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करने से उनके उपरोक्त दृढ़ चारित्रिक वैशिष्ट्य को समझने में सुविधा होगी। २६ दिसम्बर १९२४ ई. को उन्होंने पटना के एक तरुण भक्त को लिखा था –

"यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि पटना आश्रम के लिये एक स्थायी भवन के निर्माण हेतु धन-संग्रह का कार्य चल रहा है। सब ठाकुरजी की इच्छा है। हम लोग अविश्वासी होने के कारण ही अधीर हो उठते हैं। उनकी इच्छा पर निर्भर रह पाने से वे यथासमय सब कुछ प्रदान करते हैं। हम लोग उनके यंत्रस्वरूप हैं। जैसा कि कहा गया है – 'मैं घर हूँ, तुम उसके निवासी हो; मैं यंत्र हूँ, तुम उसके चालक हो' आदि। **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'** – हे अर्जुन, तुम निमित्त मात्र होकर युद्ध करो। उनकी कृपा से उनके प्रति हम लोगों की भक्ति हो और उनके महान् कार्य में उनके सहकारी होकर हम लोग धन्य हो सकें, यही मेरी हार्दिक प्रार्थना है।"

वे अपने जीवन के अन्तिम दिन भारत में ही बिताने के इच्छुक थे, परन्तु प्रभु की इच्छा कुछ और ही थी। वृद्धावस्था में भी कार्य करते समय उन्हें थकान का बोध नहीं होता था, परन्तु ध्यान-भजन तथा ईश्वर-निर्भरता ही उनके समग्र कर्म की मूल प्रेरणा थी। देहत्याग के केवल कुछ माह पूर्व ही उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "माँ कितने दिनों बाद अपने पास ले जायेंगी, यह वे ही जानती हैं। इस समय सर्वदा यही भजन याद आता रहता है – 'तुम चाहे जहाँ और जैसे भी मुझे क्यों न रखो, यदि मैं तुम्हें न भूलूँ, तो वही मेरे लिये मंगलमय होगा।' उनका स्मरण करते रहना ही मानो स्वर्ग में निवास है।" एक अन्तरंग भक्त के नाम लिखित उपरोक्त पत्रांश के हर वाक्य में मातृगतप्राण बोधानन्द की जीवन-साधना का एक संक्षिप्त, पर सुस्पष्ट रूपरेखा प्राप्त हो जाती है।

वृद्ध शरीर के द्वारा पहले के समान कार्य करना उनके लिये क्रमशः असम्भव हो उठा। आखिरकार उन्होंने प्रोस्ट्रेट ग्लैंड (मुत्राशय-ग्रन्थि) के रोग से ग्रस्त होकर बिस्तर पकड़ लिया। बीमारी में उत्तरोत्तर वृद्धि होने पर १४ मई १९५० ई. को उन्हें चिकित्सा हेतु न्यूयार्क नगर के ही रूजवेल्ट अस्पताल में भर्ती करा दिया गया। विशेषज्ञों ने आपरेशन का निर्णय लिया और उसके लिये १८ मई का दिन भी निर्धारित कर दिया। वह एक गुरुवार का दिन था। चिकित्सकों द्वारा काफी सावधानी के साथ शल्य-क्रिया किये जाने के बावजूद आपरेशन के दौरान ही अपराह्न में सवा तीन बजे स्वामी बोधानन्द ने अपने नश्वर शरीर का त्याग कर दिया। त्याग-तपस्या तथा कर्म से परिपूर्ण उनके अस्सी वर्ष की सुदीर्घ जीवन-यात्रा की आज परि-समाप्ति हुई, परन्तु अपने पीछे वे जो पदचिह्न छोड़ गये, वे ही भविष्य के अनेक पथिकों का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द के एक श्रेष्ठ सन्देशवाहक बोधानन्द अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को कुछ सामान्य शब्दों में ही बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त कर गये हैं, "स्वामीजी के समान महापुरुष का आश्रय प्राप्त करना, श्रीरामकृष्ण के दरबार में स्थान प्राप्त करना और संसार से छुटकारा प्राप्त करना – इन तीनों को ही मैं अपने जीवन की प्रधान घटनाएँ मानता हूँ।" यही स्वामी बोधानन्द की यथार्थ आत्मकथा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन आत्मनिष्ठ संन्यासी का जीवन-चरित्र श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द परिमण्डल के बीच सर्वदा आदरणीय बना रहेगा।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२२३. लोभ पाप का मूल है

एक बार सन्त इब्राहीम सड़क से जा रहे थे कि सहसा उन्हें किनारे पर अनार के वृक्ष दिखाई दिये। पके फलों को देख उनका मन ललचाया और वे एक फल तोड़कर खाने लगे, किन्तु खट्टा लगते ही उन्होंने उसे एक ओर फेंक दिया। वहीं एक पागल-सा व्यक्ति लेटा हुआ दिखाई दिया। उसके शरीर पर बहुत-सी मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। सन्त को देख उसने कहा, "अच्छा हुआ इब्राहीम, तुम आ गये।"

इब्राहीम उसे पहली ही बार देख रहे थे। उसके मुँह से अपना नाम सुनकर उन्हें आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा – आप मुझे कैसे पहचानते हैं? "खुदा का बंदा सब जानता है" – उस व्यक्ति ने उत्तर दिया। "अच्छा, तो आप खुदा के बंदे हैं" – सन्त ने व्यंग्यपूर्वक पूछा – फिर खुदा से मक्खियों को हटाने को क्यों नहीं कहते? उस व्यक्ति ने इब्राहीम से ही पूछा, "तुम भी तो खुद को खुदा का बंदा कहते हो। वह फल तुमने खुदा से माँगकर क्यों नहीं लिया?" उसने आगे प्रश्न किया, "तुम जैसे खुदा के बंदे ने दूसरे की मिलकियत की चीज को अपनी चीज कैसे समझ ली?" संत से जवाब न मिलने पर उसने कहा, "लालच बुरी बला है। मनुष्य को उसे दिल में आने ही नहीं देना चाहिए। मक्खियाँ तो शरीर को कष्ट देती रहती हैं, लेकिन लालच तो दिल को भी चोट पहुँचाता है और मनुष्य से अनर्थ करा बैठता है।"

२२४. देशसेवा के लिये स्वीकार हर बलिदान है

आगरा में कुछ क्रान्तिकारी राजगुरु के नेतृत्व में चोरी-छिपे अपना-अपना काम कर रहे थे। उन्होंने खुद ही सबके लिये खाना पकाने की जिम्मेदारी भी ले ली थी। एक दिन वे घर में अकेले थे और लुंगी पहनकर खाना बना रहे थे कि सहसा उन्होंने लोहे की संडासी अंगीठी में डाल दी। जब वह तपकर लाल हो गई, तो उन्होंने उसे अपनी खुली छाती से छुला दिया। इससे वहाँ की खल जल गई, बड़े फफोले पड़ गए और शरीर में जलन होने लगी, मगर उन्होंने 'ऊफ' तक न की, बल्कि उनके चेहरे पर एक अजीब किस्म का सन्तोष झलक रहा था। उन्होंने संडासी को पुन: अंगीठी में डाला। अब संडसी से धुँआ उठने लगा और दुर्गन्ध भी आने लगी। इस बीच उनका एक साथी द्वार के पास आ गया था। नाक में दुर्गन्ध आते ही वह फौरन अंदर आया। वहाँ राजगुरु को छाती पर तप्त संडासी लगाते देख वह स्तब्ध रह गया। उसने लपककर राजगुरु के हाथ की संडासी को छीनकर दूर फेंक दी और बोला, "तुम पर यह क्या पागलपन सवार हो गया है, जो तुम खुद ही अपनी छाती को जला रहे हो।"

राजगुरु ने सहजता से जवाब दिया, "मैं खुद को दागकर अपनी परीक्षा ले रहा था कि दुर्भाग्यवश यदि पकड़ा गया, तो अंग्रेज मुझसे सारे भेद उगलवाने के लिए जब इसी प्रकार की यातना देंगे, तो मैं विचलित तो नहीं हो जाऊँगा। कसौटी पर खरा उतरने से अब मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि भले ही अंग्रेज मेरी जान ले लें, मुझसे कुछ भी उगलवा नहीं सकेंगे।" दोस्त राजगुरु को तुरन्त इलाज के लिये डॉक्टर के पास ले गया। बाद में दूसरे साथियों ने सुना, तो उनका मस्तक गर्व से ऊपर तो उठा, किन्तु साथ ही उन्होंने इस घोर परीक्षा के लिये राजगुरु को खूब खरी-खोटी भी सुनाई।

२२५. नींद न आने के विविध कारण

धृतराष्ट्र को जब पता चला कि कौरव-पाण्डवों के बीच सुलह नहीं हो सकी है और दोनों पक्ष के लोग युद्ध की तैयारी में जुटे हैं, तो उन्होंने अपने सारथी को पाण्डवों को युद्ध से परावृत्त कराने के इरादे से उनके पास भेजा, किन्तु पाण्डवों की ओर से अनुकुल उत्तर न मिलने पर वे चिन्तित हो गये और इसी चिन्ता में उन्हें रात भर नींद न आई।

सुबह जब विदुर उनसे मिलने आये, तो उन्होंने बताया कि कल रात उन्होंने जागते हुए काटी और पूछा, "क्या आप नींद न आने का कारण बता सकते हैं?" विदुर बोले – किसी शक्तिशाली व्यक्ति से वैरभाव रखनेवाले को, धन तथा आभूषणों का संग्रह करनेवाले को, स्त्री-लोलुप व्यक्ति को और मध्य रात्रि की प्रतीक्षा करनेवाले चोर को अपनी-अपनी चिन्ताओं के कारण नींद से वंचित रहना पड़ता है –

अभियुक्तं बलवतां दुर्बलं हीन-साधनम्।
हृत्स्वं कामिनं चौरं अविशन्ति प्रजा गुराः ।।

मगर मैं सोचता हूँ कि आपको नींद न आने का इन चारों में से कोई भी कारण नहीं है। धृतराष्ट्र ने उनके कथन को सही बताया। तथापि वे स्वयं विचार करने लगे कि तब उन्हें निद्रा न आने का क्या कारण था? और उनके ध्यान में यह बात आ गई कि दुर्योधन की लोभी वृत्ति ने ही पाण्डवों को युद्ध के लिए विवश कर दिया है। दुर्योधन के दुष्कृत्यों का उन्हें बार-बार स्मरण होता था जिसके लिए वे स्वयं को दोषी मानते थे। ऐसे कुपुत्र का पिता होने की बात उनके दिल को बार-बार सालती रहने से ही नींद उनसे कोसों दूर हो गई थी। पुत्र का दुष्ट-प्रवृत्ति होना पिता के लिये चिन्ता का कारण रहता है और उसका नींद पर असर पड़ता है।

कर्मयोग – एक चिन्तन (९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

अभी आपने सुना कि गीता सभी शास्त्रों का सार है –

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।६।।

जितने उपनिषद् हैं वे गायें हैं, अर्जुन वत्स-बछड़ा है। भगवान कृष्ण उस दूध को दूहने वाले हैं, और जो अमृत निकला है वह गीतारूपी अमृत है। बारहवें अध्याय में भी भगवान कहते हैं कि यह धर्म रूपी अमृत है।

आगे हम तृतीय अध्याय में देखेंगे कि कितना भी अन्तर्मुखी व्यक्ति हो, वह कर्म से छूट नहीं सकता। लेकिन कर्म-बंधन का कारण कब होता है? कर्म के दो प्रधान फल हैं – दृश्य फल और अदृश्य फल। उदाहरणार्थ – मान लीजिए मैंने आश्रम में एक आम का पेड़ लगाया। वह पेड़ बड़ा हुआ और उसमें फल लगने लगे। मैंने देखा तथा दूसरों ने भी देखा, तो उन्हें भी आनन्द हुआ कि जो पेड़ मैंने लगाया था, उसमें फल आ गया। यह कर्म का दृश्य फल है। कर्म का दृश्यफल बंधन का कारण नहीं होता। बंधन का कारण कर्म का अदृश्यफल होता है। उस अदृश्य फल को शास्त्र की भाषा में संस्कार कहते हैं। जैसे – मैंने आम का पेड़ लगाया। तो पेड़ लगाने का एक संस्कार मेरे मन में अंकित हुआ। अब दूसरी जगह हम गये। अच्छी जमीन दिखाई दी, तो तुरन्त मन में आता है, चलो अब हम यहाँ भी आम का पेड़ लगायेंगे। यदि किसी भूवैज्ञानिक ने आकर कह दिया कि यहाँ आम का पेड़ अच्छा नहीं होगा, यहाँ लीची का पेड़ लगायेंगे, तो वह अच्छी तरह से फलेगा। तब हम लीची का पेड़ लगाते, क्योंकि मेरे मन में वृक्ष लगाने के संस्कार पड़ गये हैं। ये भीतरी संस्कार ही हमारे बन्धन के कारण हैं। आम का या लीची का वृक्ष बंधन का कारण नहीं है। उसी प्रकार न पति बंधन का कारण है, न पत्नी बंधन का कारण है, और न संतान बंधन का कारण है या नि:संतान होना बंधन का कारण है, न धन-सम्पत्ति बंधन का कारण है, न दरिद्रता बंधन का कारण है। बंधन का कारण है मन में पड़ने वाले संस्कार, जो हमारे कर्मों से पड़ते हैं।

कर्मयोग की साधना करने के लिए इन मौलिक बातों को जानना बहुत आवश्यक है। मन में कर्मों से संस्कार होते हैं। भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने एक बहुत अच्छा उदाहरण दिया है, जो श्रीरामकृष्ण-वचनामृत में मिलता है –

एक राजा था और उसका एक पुत्र था। राजा का एक मंत्री था और उसको भी एक पुत्र था। मंत्री-पुत्र भी राजकुमार के उम्र का ही था। दोनों बच्चे साथ-साथ खेला करते थे। राजा का लड़का मंत्री के लड़के से कहता है, चल आज हम धोबी का खेल खेलेंगे। तू पीठ के बल लेट जा, और मैं कपड़े धोने का खेल खेलूँगा। ठाकुर कहते हैं कि राजकुमार के पूर्वजन्म के ये संस्कार थे। यद्यपि राजा का पुत्र कुछ अन्यान्य कर्मों के कारण हुआ, किन्तु गत किसी जन्म में यह राजपुत्र धोबी का काम करता था। इसलिए उसके मन में यह संस्कार जागृत हुआ और धोबी का खेल खेलने लगा। देखें, संस्कार कितने दृढ़ होते हैं। अतः हमें कर्म करते समय सावधान रहना चाहिये।

कर्मयोग के साधक को और एक बात बड़ी सावधानी से याद रखनी चाहिए, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखा है। स्वामीजी ने बहुत सरलता से कर्मयोग समझाया है। उसमें – दो महत्त्वपूर्ण बात स्वामीजी बताते हैं।

पहली बात – यह याद रखो कि संसार को तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। कितने लोग आज मरे हैं, कल मर गये होंगे किन्तु संसार का कोई कार्य नहीं रुका। इसी क्षण अगर मैं मर जाऊँ, तो संसार जैसा चलने वाला है। वैसे ही चलेगा, उसमें कोई कमी नहीं आनेवाली। जिसने संसार बनाया है, वही इस संसार को चलाता है। पूर्व में हमने अहं की चर्चा की थी। जैसे किसी को लगता है कि ये सारा आश्रम मेरे कंधों पर चलता है। यदि मैं न रहूँ, तो आश्रम ही गिर जायेगा। मैं यदि आश्रम का कार्य न करूँ, तो पृथ्वी से आश्रम का नामोनिशान मिट जायेगा। अरे भाई, नामोनिशान मेरा मिटेगा, आश्रम का नहीं। स्वामीजी कहते हैं, याद रखना, संसार को तुम्हारी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। जैसे यदि मेरे शरीर से एक लोम गिर जाय, या नया लोम आ जाय, तो शरीर में कोई अंतर नहीं पड़ता है। यह बात अगर समझ में आ जाय, तो बहुत-सी समस्याओं से हम बच जायेंगे।

बहुत से लोग हमारे पास आते हैं, और कहते हैं, महाराज हमें तीर्थयात्रा में जाना है। बहुत दूर नहीं, नजदीक ही रायपुर से ३० कि.मी. दूरी पर चम्पारण्य नामक स्थान है,

जो भगवान वल्लभाचार्य का जन्मस्थान है, वहीं जाना है। बहुत बार ऐसे लोगों से मेरी भेंट हुई, जो साऊथ अफ्रिका, इग्लैण्ड, अमेरिका आदि स्थानों से आये थे और वे सब चम्पारण्य का दर्शन करने गये। कुछ लोग रायपुर में हैं, जो उस स्थान के ट्रस्टी भी हैं, रायपुर में उनका जन्म हुआ है। किन्तु साठ साल की उम्र में मैंने उनसे पूछा, क्या भाई, चम्पारण्य का कभी दर्शन किया? तो बोलते हैं, क्या कहें महाराज, हमें वहाँ कभी जाने के लिए समय ही नहीं मिला। अब आप सोचें, जन्म से रायपुर में हैं, इतना नजदीक चम्पारण्य है, किन्तु वहाँ जाने के लिए उनके पास समय नहीं है। और दूसरी ओर ये इतने दूर देश से दर्शन के लिये आये हुये हैं। हमें यह समझना चाहिए कि अगर हम चम्पारण्य का दर्शन नहीं करेंगे, तो तीर्थ का महत्त्व कम नहीं होने वाला है। तीर्थ जैसा है, वैसा ही रहेगा। लेकिन हम नष्ट हो जायेंगें।

अब स्वामीजी दूसरी महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं – जैसे संसार को तुम्हारी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, तुम्हारे आने जाने से संसार में कोई फर्क नहीं पड़ता। किन्तु सावधान! यह याद रखना, संसार के बिना तुम क्षणभर भी नहीं रह सकते। यह कैसे? यह कपड़ा जो मैंने पहन रखा है, क्या उसे मैंने बनाया है? ये सूती कपड़ा कपास से बनाया गया है। कपास को किसान ने खेत में उगाया। न उसे मैं जानता हूँ, न मिल का मालिक उसे जानता है, किन्तु उस किसान ने कपास पैदा करके बाजार में उसे बेचा। उसे व्यापारी ने खरीदा। उसने कपड़ों के मिलवालों को उसे बेचा। मिलवालों ने उसे कपड़ा बनाया। फिर वह कपड़ा किसी दूकान में बिका। उसे मैंने खरीदा और पहन लिया। इसी तरह जो कुछ हमें मिला है, वह भगवान की कृपा से मिला है, हमारे सामर्थ्य से कुछ भी नहीं मिला है।

हम अगर अस्वस्थ हो जायें। मान लिजिए हार्ट अटैक आ गया। डॉ. आये और उन्होंने बताया कि तुरन्त इनको यह इंजेक्शन देना पड़ेगा। दवा खोजी गयी। किन्तु वहाँ दवाई नहीं मिली। तब वह दवा दूसरे शहर में मिलती है क्या? देखो, अगर मिलती है, तो वहाँ से तुरन्त उसको किसी तरह ले आओ। कोई गया और जाकर दवा ले आया। रोगी को दिया गया और वह स्वस्थ हो गया। यदि यह दवा उस दवाई की कंपनी ने न बनाया होता, तो क्या आदमी बच सकता? ये मन में दृढ़तापूर्वक बिठा लेना चाहिए कि संसार की कृपा के बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। भगवान श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं – शिव-ज्ञान से जीव-सेवा। गीता के शब्दों में अनासक्त होकर संसार की सेवा करना। यही कर्मयोग है। क्योंकि संसार का ऋण हम पर इतना अधिक है कि हम उस ऋण से उऋण नहीं हो सकते। केवल एक उपाय है, प्रभु कृपा से हमें जितनी सामर्थ्य मिली है, उसके द्वारा जितनी हम सेवा कर सकें करें। जैसे गंगाजल से ही गंगापूजा। हमें जो कुछ मिला है, वह भी भगवान की कृपा से ही मिला है। और उन्हीं की कृपा से ही हम थोड़ी सेवा कर पा रहे हैं। इससे हमारा कर्म योग बन जायेगा। हमारा अहंकार गल जायेगा। गीता में बहुत बार कर्मफल-त्याग का उपदेश है। किन्तु यह मार्ग कठिन है। कर्म करो और फिर उसके फल का त्याग करो। तो क्या करें?

भगवान कहते हैं कि तुम जो कुछ भी करो, उन सबको मुझे समर्पित कर दो –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

हमारे लिये समर्पण का पथ ही उचित है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव भी शरणागति का ही पथ बताते हैं। स्वामी विवेकानन्द जी भी यही कहते हैं कि हम अपने कर्मों को भगवत् समर्पण बुद्धि से करें। ऐसा करेंगे तो हम कर्म के बन्धन से बच जायेंगे और हमको मुक्ति मिल जायेगी।

अर्जुन के भगवान से दो प्रश्न थे –

पहला, आप कर्मयोग की तुलना में ज्ञानयोग या सांख्ययोग को श्रेष्ठ समझते हैं, तो मुझे युद्ध जैसे घोर कर्म के झंझट में क्यों फँसाते हैं। दूसरा प्रश्न नहीं, उलाहना है, आक्षेप है कि आपके मिश्रित वाक्यों से मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है। अत: आप मेरे लिये क्या श्रेष्ठ है, उसे निश्चित करके बताइये।

इतना करने के बाद अर्जुन भगवान से शरणागत होकर प्रार्थना करते हैं –

कार्पण्यदोषोपहत स्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः।
यत् श्रेयः स्यात् निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाही मां त्वां प्रपन्नम्।। (२.७)

आप निश्चित रूप से मुझे बता दें, जिससे मेरा कल्याण हो।

तब भगवान ने अर्जुन को दो प्रकार की निष्ठायें बतायी थीं –

लोकेऽस्मिन्द्विधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। ३.३

प्राचीन समय में मैंने इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें बताई थीं। क्या यहाँ निष्ठा मोक्ष के अर्थ में है या उपाय के अर्थ में? यहाँ निष्ठा साधन के रूप में है। अन्तर्मुखी ज्ञानयोगियों के लिये ज्ञानयोग बहिर्मुखी लोगों के लिए कर्मयोग की निष्ठा बताई।

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (२१)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इति उक्तम्। कः पुनः प्रतिबन्धो अग्र्यायाः बुद्धेः, येन तत् अभावात् आत्मा न दृश्यते इति तत् अदर्शन-कारण-प्रदर्शनार्था वल्ली आरभ्यते; विज्ञाते हि श्रेयः प्रतिबन्ध-कारणे तत् अपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते, न अन्यथा इति –

कहा गया है कि "यह आत्मा समस्त जीवों में छिपा हुआ है, अतः प्रकट नहीं होता, परन्तु एकाग्र सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा देखने में आता है।" (कठ. १/३/१२) अब इस एकाग्र सूक्ष्म बुद्धि के लिये क्या बाधा है, जिसके कारण उस बुद्धि का अभाव है और आत्मा नहीं दिखता – इस अदर्शन का कारण दिखाने के लिये यह वल्ली आरम्भ की जाती है, क्योंकि श्रेय की बाधा का कारण जानने के बाद ही उसे दूर करने का प्रयत्न आरम्भ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं –

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। २/१/१ (७२)

अन्वयार्थ – **पराञ्चि** (स्वभाव से) बहिर्मुखी **खानि** श्रोत्र आदि इन्द्रियों को **स्वयम्भूः** परमात्मा ने **व्यतृणत्** हिंसा कर डाला है (मार डाला है), **तस्मात्** इसीलिये (द्रष्टा) **पराङ्** (शब्द आदि) बाह्य विषयों को ही **पश्यति** देखता है, **अन्तरात्मन्** अन्तरात्मा को **न** नहीं (देखता)। **कः चित्** किसी **धीरः** विवेकवान ने **आवृत्त-चक्षुः** (अपनी) नेत्र आदि इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके **अमृतत्त्वम्** अमरत्व, अपने सच्चे स्वरूप **इच्छन्** की इच्छा करता हुआ **प्रत्यगात्मानम्** अपने स्वरूप का **ऐक्षत्** साक्षात् दर्शन किया।

भावार्थ – बहिर्मुखी श्रोत्र आदि इन्द्रियों को परमात्मा ने मार डाला है, इसीलिये जीव (शब्द आदि) बाह्य विषयों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। किसी विवेकी ने अमृतत्व की अभिलाषा से अपनी इन्द्रियों का संयम करके अन्तरात्मा का दर्शन किया।

भाष्य – पराञ्चि पराक् अञ्चन्ति गच्छन्ति इति खानि तद्-उपलक्षितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि खानि इति उच्यन्ते। तानि पराञ्चि एव शब्द-आदि-विषय-प्रकाशनाय प्रवर्तन्ते। यस्मात् एवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणत् हिंसितवान् हननं कृतवान् इत्यर्थः। कोऽसौ? स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतंत्रो भवति सर्वदा न परतंत्र इति। तस्मात् पराङ् पराक्-रूपान् अनात्मभूतान् शब्दादीन् पश्यति उपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन् न अन्तरात्मानम् इत्यर्थः।

भाष्य-अनुवाद – बाहर जाता है इसलिये पराञ्चि और (ख का अर्थ है छिद्र) खानि शब्द का उपलक्षित तात्पर्य है श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ। वे निश्चय ही अपने शब्द आदि विषयों को प्रकट करने के लिये बाहर जाती हैं। चूँकि ऐसा इनके लिये स्वाभाविक है, अतः ये हिंसित अर्थात् मार डाली गयी है। कौन है ऐसा करने वाला? स्वयं परमेश्वर ही, वह सदा स्वतंत्र है, किसी के अधीन नहीं है। इसी कारण व्यक्ति अनात्मा-स्वरूप शब्द आदि बाह्य विषयों को ही देखता है, परन्तु अन्तरात्मा को नहीं देखता।

एवं स्वभावे अपि सति लोकस्य कश्चित् नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनम् इव धीरो धीमान् विवेकी प्रत्यगात्मानं; प्रत्यक् च असौ आत्मा च इति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येव आत्म-शब्दो रूढो लोके न अन्यस्मिन्। व्युत्पत्ति-पक्षे अपि तत्र एव आत्म-शब्दो वर्तते। "यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते" (लिङ्गपु. १/७०/९६) इति आत्म-शब्द-व्युत्पत्ति-स्मरणात्।

मनुष्य का ऐसा ही स्वभाव है, तथापि (कोई-कोई) विवेकी व्यक्ति नदी के प्रवाह को उल्टी दिशा में ले जाने के समान (इन्द्रियों की दिशा फिराकर) प्रत्यगात्मा को देखता है। जो प्रत्यक् (आन्तरिक) भी है और आत्मा भी, उसे प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) कहते हैं। आत्मा शब्द का रूढ अर्थ अन्य कुछ नहीं, प्रत्यक् (आन्तरिक) मात्र ही है। व्युत्पत्ति शास्त्र की दृष्टि से भी आत्मा शब्द का वही अर्थ निकलता है। स्मृति में आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है – "चूँकि यह सबको व्याप्त करता है, सबको ग्रहण करता है और इस संसार में (सभी) विषयों का भोग करता है, चूँकि इसी से जगत् को अस्तित्व का भाव मिलता है, इसीलिये इसे आत्मा कहा गया है।" (लिङ्गपुराण, १/७०/९६)

तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावम् ऐक्षत् अपश्यत् पश्यति इत्यर्थः, छन्दसि काल-अनियमात्। कथं पश्यति इति

उच्यते । आवृत्त-चक्षुः आवृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्र-आदिकम् इन्द्रिय-जातम् अशेष-विषय-आद्यस्य स आवृत्तचक्षुः । स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्य-विषय-आलोचन-परत्वं प्रत्यगात्मा-इक्षणं च एकस्य सम्भवति । किमर्थं पुनः इत्थं महता प्रयासेन स्वभाव-प्रवृत्ति-निरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यति इति उच्यते; अमृतत्त्वम् अमरण-धर्मत्वं नित्य-स्वभावताम् इच्छन् आत्मनः इत्यर्थः ।। २/१/१ (७२) ।।

उसने अपने स्वभाव-रूपी अन्तरात्मा को 'देखा' अर्थात् देखता है, क्योंकि वेदों में काल का नियम नहीं है । अब यह बताते हैं कि कैसे देखता है । अपने नेत्रों को ढककर अर्थात् अपने श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आवृत्तचक्षु हो गया है जो, ऐसा शुद्धचित्त हुआ व्यक्ति अन्तरात्मा को देखता है । एक ही व्यक्ति के लिये बाह्य विषयों में लिप्त होना और अन्तरात्मा का भी दर्शन करना सम्भव नहीं है । फिर प्रश्न उठता है कि धीर (विवेकी) व्यक्ति क्यों इस प्रकार इतने महान् प्रयास से अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोक करके अन्तरात्मा को देखता है? अपनी आत्मा के नित्य स्वभाव रूप अमरता के गुण को प्राप्त करने की इच्छा करता हुआ ।

* * *

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।।२/१/२ (७३)

अन्वयार्थ – **बालाः** अल्पबुद्धि के लोग **पराचः** बाह्य **कामान्** काम्य विषयों का **अनुयन्ति** अनुगमन करते हैं । **ते** वे लोग **विततस्य** सर्वत्र फैले हुए **मृत्योः** (अविद्या-काम-कर्म-रूपी) मृत्यु के **पाशम्** बन्धन को **यन्ति** प्राप्त होते हैं । **अथ** अतएव **धीराः** विवेकीगण **अध्रुवेषु** अनित्य वस्तुओं में निहित **ध्रुवम्** कूटस्थ **अमृतत्वं** नित्य स्वरूप को **विदित्वा** जानकर **इह** इस संसार में **न प्रार्थयन्ते** कुछ भी कामना नहीं करते ।।

भावार्थ – अल्पबुद्धि के मूढ़ लोग बाह्य काम्य विषयों का अनुगमन करते हैं । वे लोग सर्वत्र फैले हुए (अविद्या-काम-कर्म-रूपी) मृत्यु के बन्धन को प्राप्त होते हैं । अतएव विवेकीगण अनित्य वस्तुओं में निहित कूटस्थ नित्य स्वरूप को जानकर इस संसार में कुछ भी कामना नहीं करते ।।

भाष्यम् – यत् तावत् स्वाभाविकं पराक् एव अनात्म-दर्शनं तत् आत्मदर्शनस्य प्रतिबन्ध-कारणम् अविद्या तत् प्रतिकूल-त्वात् । या च पराक्ष्वेव अविद्योपप्रदर्शितेषु दृष्ट-अदृष्टेषु भोगेषु तृष्णा । ताभ्याम् अविद्या-तृष्णाभ्यां प्रतिबद्ध-आत्मदर्शनाः – पराचः बहिर्गतान् एव कामान् काम्यान् विषयान् अनुयन्ति अनुगच्छन्ति बालाः अल्पप्रज्ञाः ते तेन कारणेन मृत्योः अविद्या-काम-कर्म-समुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते बध्यते येन तं पाशं देह-इन्द्रिय-आदि-संयोग-वियोग-लक्षणम् । अनवरत-जन्म-मरण-जरा-रोगादि-अनेक-अनर्थ-व्रातं प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः ।

चूँकि बाह्य अनात्म (विषयों) का दर्शन ही स्वाभाविक है, अतः यही आत्मदर्शन में बाधा का कारण है, यही अविद्या है, क्योंकि यही उसमें बाधक है । दिखने तथा न दिखनेवाले इन बाह्य विषयों के भोग की तृष्णा ही अविद्या के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । जिनका आत्मदर्शन अविद्या और तृष्णा – इन दोनों के द्वारा बाधित है – ऐसे अल्पबुद्धि लोग केवल बाह्य काम्य विषयों के पीछे दौड़ते हैं । इस कारण से वे अविद्या-काम-कर्म-शृंखला में पड़कर देह-इन्द्रियों आदि के संयोग-वियोग रूपी मृत्यु के सर्वत्र फैले हुए पाशों (बन्धनों) में फँस जाते हैं । तात्पर्य यह कि वे निरन्तर जन्म, मरण, वार्धक्य, रोग आदि अनेक अनर्थों को प्राप्त होते हैं ।

यतः एवम् अथ तस्माद् धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्म-स्वरूप-अवस्थान-लक्षणम् अमृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवादि-अमृतत्वं हि अध्रुवम्, इदं तु प्रत्यगात्म-स्वरूप-अवस्थान-लक्षणं 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृ.उ. ४/४/२३) इति ध्रुवम् । तदेवंभूतं कूटस्थम् अविचाल्यम् अमृतत्वं विदित्वा-अध्रुवेषु सर्वपदार्थेषु अनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणाः इह संसारे अनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचित् अपि प्रत्यगात्म-दर्शन-प्रतिकूलत्वात् । पुत्र-वित्त-लोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्ति एव इत्यर्थः ।।२ ।।

चूँकि ऐसी बात है, अत; विवेकी लोग अपने स्वरूप – अन्तरात्मा में स्थिति को अमृतत्व को स्थिर जानकर, क्योंकि देवताओं आदि का अमृतत्व अस्थिर है, जबकि अपने स्वरूप-भूत अन्तरात्मा में स्थिति रूप स्थिर है, जैसा कि (श्रुति में) कहा है, ''कर्म से यह न घटता है न बढ़ता है ।'' (बृहदा. ४/४/२३) समस्त अनित्य पदार्थों के बीच, ऐसे स्वरूप वाले कूटस्थ अविचल अमृतत्व को जानकर ब्रह्मवेत्ता लोग इस संसार में किसी भी अनर्थकारी वस्तु को नहीं चाहते, क्योंकि वे अन्तरात्मा के दर्शन में बाधक हैं । तात्पर्य यह कि वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठ जाते हैं ।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी
श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी ।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बं
स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ।।३३६।।

अन्वय – कः पण्डितः सन् सद्-असद्-विवेकी, श्रुति-प्रमाणः, परमार्थ-दर्शी, मुमुक्षुः, जानन् हि शिशुवत् स्वपात-हेतोः असतः अवलम्बं कुर्यात्?

अर्थ – ऐसा भला कौन व्यक्ति होगा, जो विद्वान्, सत् तथा असत् में विवेक करनेवाला, वेदों को प्रमाण माननेवाला, परमार्थ का दर्शन करनेवाला और मोक्ष का आकांक्षी होकर भी बच्चों के समान (मूर्खतापूर्वक) अपने अध:पतन की ओर ले जानेवाले, मिथ्या वस्तुओं का आश्रय लेगा?

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्ति-
र्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः ।
सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः
स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ।।३३७।।

अन्वय – देहादि-संसक्तिमतः न मुक्तिः, मुक्तस्य देहादि-अभिमति-अभावः । सुप्तस्य जागरणं नो । जाग्रतः स्वप्नः न । तयोः भिन्न-गुण-आश्रयत्वात् ।

अर्थ – देह आदि में आसक्ति रखनेवाले की मुक्ति नहीं हो सकती; और मुक्त व्यक्ति में उसमें देहादि का अभिमान नहीं होता । वैसे ही जैसे सुषुप्त व्यक्ति को जाग्रत अवस्था का और जाग्रत व्यक्ति को स्वप्न अवस्था का बोध नहीं होता, क्योंकि वे भिन्न गुणों के आश्रयवाले हैं ।[1]

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु
ज्ञात्वाऽऽत्मनाधारतया विलोक्य ।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः
पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः ।।३३८।।

अन्वय – यः स्थिर-जङ्गमेषु अन्तः बहिः आधारतया स्वं आत्मना ज्ञात्वा, विलोक्य, त्यक्त-अखिल-उपाधिः अखण्ड-रूपः पूर्ण-आत्मना स्थितः एषः मुक्तः ।

अर्थ – जो व्यक्ति अपने शुद्ध मन के द्वारा स्वयं को ही सभी चर तथा अचर वस्तुओं तथा प्राणियों का आन्तरिक एवं बाह्य आधार जानकर, समस्त उपाधियों को त्यागकर, अखण्ड रूप से पूर्ण आत्मभाव में स्थित है, वही मुक्त है ।

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः
सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् ।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ
सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ।।३३९।।

अन्वय – सर्वात्मना बन्ध-विमुक्ति-हेतुः सर्वात्म-भावात् कश्चित् परः न अस्ति । अस्य सदा-आत्म-निष्ठया दृश्य-अग्रहे सति असौ सर्वात्म-भावः उपपद्यते ।

अर्थ – यह सर्वात्म भवबन्धन से मुक्ति का हेतु है, इस सर्वात्म-भाव से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है । आत्मनिष्ठा के द्वारा दृश्य जगत का त्याग कर देने पर व्यक्ति को इस सर्वात्म-भाव की प्राप्ति हो जाती है ।

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो
बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः ।
संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरै-
स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिर्यत्नतः।।३४०।।

अन्वय – देहात्मना तिष्ठतः बाह्य-अर्थ-अनुभव-प्रसक्त-मनसः तत्-तत्-क्रियां कुर्वतः दृश्यस्य अग्रहणं कथं नु घटते? संन्यस्त-अखिल-धर्म-कर्म-विषयैः नित्य-आत्मनिष्ठा-परैः सदा-आनन्द-इच्छुभिः तत्त्वज्ञैः यत्नतः आत्मनि करणीयं ।

अर्थ – जो व्यक्ति देह को अपना स्वरूप मानकर रहता है, जो इन्द्रियग्राह्य विषयों के भोग में आसक्त चित्तवाला है, जो तदनुसार उनकी प्राप्ति के लिये कर्मों में लगा हुआ है, उसके लिये दृश्य का अग्रहण (त्याग) भला कैसे होगा? (पर) जिन लोगों ने समस्त धर्म-कर्म आदि विषयों का त्याग कर दिया है, जो लोग आत्मनिष्ठा परायण हैं, जो लोग चिर-आनन्द की प्राप्ति के इच्छुक हैं, ऐसे तत्त्वज्ञ लोगों को ही यत्नपूर्वक दृश्य विषयों का अग्रहण (त्याग) करना चाहिये ।

सर्वात्मसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः ।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः।।३४१।

अन्वय – कृत-श्रवण-कर्मणः भिक्षोः शान्तः दान्तः इति एषा श्रुतिः सर्वात्म-सिद्धये समाधिं विदधाति ।

अर्थ – जिसने वेदान्त-वाक्यों का श्रवण कर लिया है, ऐसे 'शान्तो दान्त:'* – शम, दम आदि से साधनों से युक्त संन्यासी के लिये ही श्रुति सर्वात्म-सिद्धि हेतु समाधि का विधान करती है ।

आरूढशक्तेरहमो विनाशः
कर्तुन्न शक्यः सहसापि पण्डितैः ।
ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चला-
स्तानन्तराऽनन्तभवा हि वासनाः।।३४२।।

अन्वय – वासना हि अनन्त-भवाः । आरुढ-शक्तेः अहमः विनाशः, ये निर्विकल्प-आख्य-समाधि-निश्चलाः तान् अन्तरा, पण्डितैः अपि सहसा कर्तुं न शक्यः ।

अर्थ – चूँकि वासनाएँ अनन्त जन्मों से चली आ रही हैं, अत: (उनसे उद्भूत) प्रबल शक्तिवाले अहंकार का सहसा विनाश कर पाना, निश्चल भाव से निर्विकल्प समाधि में स्थित लोगों के अतिरिक्त – विद्वानों द्वारा भी सम्भव नहीं है ।

१. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति – ये तीनों अवस्थाएँ क्रमश: रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुण के आश्रयवाली हैं ।

* शान्तो दान्त उपरतिस्तितिक्षु: समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति ।। (बृहदा । उप । ४/४/२३)

❖ (क्रमशः) ❖

बालक संघ का सांस्कृतिक कार्यक्रम

२० जनवरी, शुक्रवार को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा संचालित 'विवेकानन्द बालक संघ' ने शाम ७ बजे से १० बजे तक वार्षिक सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, जिसमें किशोर उम्र के बच्चों ने 'भ्रष्टाचार निवारण' पर आधारित एक नाटक प्रस्तुत किया। इस नाटक में एक गरीब किसान को जब राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कृत करना चाहते हैं, तब वह पुरस्कार में १०० कोड़े माँगता है और उसे द्वारपाल, महामंत्री आदि में बाँटने को बोलता है। क्योंकि सभी ने राजा से मिलने के लिये रिश्वत माँगी थी। इस राजा को भ्रष्टाचारी मंत्री आदि से अवगत कराकर सुधार कराता है। राजा प्रसन्न होकर उसे महामंत्री बनाते हैं और भ्रष्ट मंत्री आदि कर्मचारियों को कारागार में डाल देते हैं। उसके बाद बच्चों ने 'प्राचीन और आधुनिक भारत' नाटक दिखाया। बहुत अच्छी कौवाली, दुर्गागीत पर साभिनय नृत्य और अन्य कई गीत-नृत्य प्रस्तुत किये। अन्त में 'रामकृष्ण शरणम्' भजन से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम का निर्देशन 'बालक संघ' के संचालक ब्रह्मचारी नन्दकुमार जी ने किया।

युवा-शिविर – चरित्र-निर्माण कार्यशाला

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रविवार, २२ जनवरी २०१२ को आश्रम के सत्संग भवन में युवक-युवतियों के लिये 'व्यक्तित्व विकास और चरित्र-निर्माण' विषय पर एक सेमीनार का आयोजन किया गया। इसमें आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द, विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, विख्यात मनोरोग चिकित्सक डॉ. पी. एन. शुक्ला और प्रसिद्ध अस्थिरोग विशेषज्ञ डॉ. पूर्णेन्दु सक्सेना ने प्रतिभागियों को बहुत ही मूल्यवान एवं व्यावहारिक परामर्श प्रदान किये। सेमिनार में लगभग ३०० युवकों ने भाग लिया।

आश्रम द्वारा राहत कार्य

२८ दिसम्बर, २०११ को रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और रोटरी क्लब, रायपुर के तत्त्वावधान में विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली गदाधर प्रकल्प केन्द्र में आसपास के सात गाँवों – धमनी, कुकरा, रसनी, देवदा, रींवा, बैहार और लखौली के जरूरतमन्द १५० लोगों के बीच उन्हें ठण्ड से सुरक्षा प्रदान करने के लिये कम्बल वितरित किये गये।

आध्यात्मिक प्रवचन-शृंखला

१४ जनवरी से १८ जनवरी तक रामचरित-मानस पर प्रवचन था। ये प्रवचन आश्रम में निर्मित विशाल पांडाल में होते थे। युगतुलसी पण्डित रामकिंकर जी महाराज के शिष्य श्री भागवत प्रसाद पाठक ने 'हनुमत्-चरित' पर सरस और तात्त्विक प्रवचन कर श्रोताओं को मुग्ध कर दिया। उन्होंने कहा कि हनुमानजी ने पाँचों तत्त्वों की न्यूनता एवं अधिकता की विषम परिस्थितियों से सदा अप्रभावित रहकर अपने लक्ष्य को प्राप्त किया। श्रीराम की सुग्रीव से मित्रता कराने, सीताजी को श्रीराम का सन्देश देकर उन्हें शोकमुक्त करने और श्रीराम को सीताजी का सन्देश देने, भरतजी को श्रीराम का सन्देश देने तथा लक्ष्मणजी के लिये संजीवनी बूटी लाकर उनके प्राण बचाने में हनुमानजी का महान योगदान है। वे सबको भगवान से जोड़ते हैं और सबके जीवन में ईश्वर में बाधक संकटों को दूर करते हैं।'' उनके साथ आये श्री सुरेन्द्र शुक्ल प्रवचन के पूर्व अपने भजन से भक्ति की गंगा बहाते थे, जिसमें सारे श्रोता अवगाहन करते थे।

२१ जनवरी से २८ जनवरी तक स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती 'राजेश रामायणी' जी के 'लक्ष्मण-चरित' पर भक्तिपूर्ण संगीतमय मनोरंजक प्रवचन हुये। राजेश्वरानन्द जी ने कहा कि लक्ष्मणजी दिखते क्रोधी हैं, लेकिन वास्तव में वे क्रोधी नहीं हैं, क्रोध उनका अभिनय है। वे तो शीतल, सुन्दर हैं एवं सदा भगवान श्रीराम से संयुक्त हैं। भगवान से जुड़ा रहनेवाला कभी क्रोधी और अहंकारी नहीं हो सकता। लक्ष्मण जी कर्मयोगी हैं। वे कर्म करते हैं, किन्तु अहंता और ममता से निर्लिप्त हैं। श्रीराम रघुवंश मणि हैं, तो लक्ष्मण जी फणि हैं और फणि का कार्य मणि की रक्षा करना है।

२९ से ३१ जनवरी, २०१२ तक अयोध्या से पधारे स्वामी श्रीधराचार्य जी महाराज ने भागवत के भक्तों – विदुर, प्रह्लाद आदि के चरित पर तात्त्विक और विद्वत्तापूर्ण प्रवचन दिये। महाराज ने कहा कि शून्य पूर्ण ब्रह्म है, क्योंकि उसका न कोई आदि है, न अन्त। अनादि, अनन्त को ही पूर्ण ब्रह्म कहते हैं। भगवान इतने कृपालु हैं कि देर आने के लिये प्रह्लाद से क्षमा माँगते हैं। प्रह्लाद ऐसे अनन्य भक्त हैं कि उनके लिये भगवान को इतना कष्ट हुआ, इसलिये वे भगवान से क्षमा माँगते हैं। उनके साथ आये कलाकारों ने भजन सुनाकर सबको मुग्ध कर दिया। ❑❑❑